श्रीमद्‌–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–विरचित–षोडश–ग्रन्थान्तर्गतं–प्रथमं

श्रीयमुनाष्टकम्।

चतसृभिष्टीकाभिः समलंकृतम्

१. श्रीमन्प्रभुचरणानां विवृतिः
२.श्रीहरिरायाणां विवृतिटिप्पणम्ः
३.श्रीपुरुषोत्तमानां विवृति विवरणम्
४. श्रीद्वारकेशानां विवृतिटिप्पणम्

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

ग्रन्थ–परिचय

सुना जाता है कि अपनी व्रजयात्राके दरम्यान श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु महावनमें यमुना तटपर गोकुल ग्रामकी खोजमें परिभ्रमण कर रहे थे तब स्वयम् श्रीयमुनाने प्रकट होकर वर्तमान गोकुलका स्थल दिखलाया था। प्राचीन गोकुल ग्रामके स्थलकी पहचानके बाद श्रीमहाप्रभु वहां बिराजे और तब श्रीयमुनाके पुष्टिमार्गीय माहात्म्य या महत्व का गान उनके मुखसे बरबस निकलने लगा। वही षोडशग्रन्थोंमें मङ्गलाचरणके रूपसे योजित हुआ श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रम् है।

एक किंवदन्तीके अनुसार श्रीयमुनाष्टक वि। सं। १५४९ में श्रावण शुक्ल तृतीयाके दिन श्रीगोकुलमें रचा गया था।*

जैसे श्रीगङ्गाके साथ दास्यभावात्मिका मर्यादाभक्तिकी एक अन्तर्धारा बहती है, वैसे ही श्रीयमुनाके साथ पुष्टिभक्तिकी अन्तरर्धारा बहती है। श्रीयमुनाके साथ बहती पुष्टिभक्तिकी यह अन्तरर्धारा व्यापिवैकुण्ठके नाथको छोटेसे गोकुलके नाथ बननेके लिए मार्ग तथा पुष्टिमार्गीय गरिमा प्रदान करती है। क्षयकृत् कालके प्रवाहमें बहते जीवोंको वहांसे बरबस खींचकर अपने साथ बहाती हुई यह धारा उन्हें श्रीकृष्णकी दिव्य मधुर नित्यलीलाओंतक पहुंचा देती है।

श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुने इस यमुनाष्टक स्तोत्रमें श्रीयमुनाके आधिभौतिक आध्यात्मिक एवम् आधिदैविक रूपोंका वर्णन करते हुए पुष्टिमार्गीय दृष्टिकोणसे श्रीयमुनाके असाधारण अष्टविध वैशिष्ट्य अथवा ऐश्वर्य का आठ श्लोकोंमें वर्णन किया है। क्रमशः एक–एक श्लोक श्रीयमुनाके एक–एक ऐश्वर्यके वर्णनार्थ कहा गया है। वे ऐश्वर्य श्रीयमुनाके ये हैं:

१।श्रीयमुना पुष्टिमार्गीय अनेकविध सिद्धियोंको देनेवाली है। उदाहरणतया– साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति, भगवानकी विविध पुष्टिलीलाओंके दर्शन कर पानेका सामर्थ्य, उन लीलाओंमें अभिव्यक्त होते रसोको

(* दृष्टव्य श्रीनागरदास बांभणिया द्वारा लिखित–"श्रीषोडशग्रन्थनी रचना तथा श्रीमहाप्रभुना चरित साथे संकालायेल महत्व नी तवारीखो" लेख। वैष्णववाणी अंके ४ वर्ष १९७९)

अनुभव कर पानेका सामर्थ्य तथा सर्वात्मभाव आदि। ये सब पुष्टिभार्गीय सिद्धियां हैं जो श्रीयमुनाद्वारा पुष्टिजीवको प्राप्त होती है।

२।श्रीयमुना भगवद्भावको बढानेवाली है। देवादिविषयिणी रति या प्रीति भाव कहलाती है। पुष्टिमार्गके आराध्य देव श्रीकृष्ण ही है तथा श्रीयमुना पुष्टिजीवको इसी कृष्णस्नेहरूप भगवद्भावसे सम्पन्न करती है।

३।अपने आराध्य श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध जोडनेमें पुष्टिभक्तके सामने जो भी प्रतिबन्ध या विघ्न आते हैं उन्हें श्रीयमुना दूर करती हैं। इन विघ्नोंको हर कर पुष्टिभक्तको भगवदनुभव करने योग्य शुद्ध बना देती है। अतः पुष्टिजगत्‌को ये पावन करनेवाली है।

४।जैसे गुणधर्म और रूप भगवान्‌ने पुष्टिलीलामें प्रकट किये हैं वे सभी श्रीयमुनामें भी प्रकट किये है। अतः श्रीयमुनासे जिसका सम्बन्ध स्थापित हुआ हो उसका परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके साथ भी सम्बन्ध अनायास ही स्थापित हो गया समझ लेना चाहिये।

५।भगवान्‌के प्रिय भक्तोमें जो भी कलिरूप दोष हों उन्हें श्रीयमुना दूर कर देती है।

६।रासलीलामें भगवान्‌के तिरोहित हो जानेपर जैसे गोपिकाओंने श्रीयमुनातटपर निःसाधनताके भावसे श्रीकृष्णकी प्रतीक्षा की, वैसे ही जो भी पुष्टिजीव श्रीयमुनाके आश्रयसे भगवान्‌को खोजना चाहता है वह भगवान्‌का प्रेमपात्र बनता है तथा भगवान्‌को पा सकता है। यमुना-जल-पानका यह असाधारण महत्व है कि पानकर्ताके देह-इन्द्रिय-आदि कालप्रवाहमें उसकी आत्माको बहाकर कभी यमालयतक नहीं पहुंचाते। किन्तु कालातीत परमात्माको प्रणयरशनामें बांधकर पानकर्ता भक्त तक अवश्य पहुंचा देते है।

७।देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण एवम् आत्मा यों सभीके द्वारा भगवत्‌लीला एवम् भगवत्स्वरूप की अनुभूति-इस अलौकिक सामर्थ्यको तनुनवत्व अर्थात् तनु-देहका नवीनीकरण माना गया है। श्रीयमुना पुष्टिजीवोंके देहादिमें ऐसा अलौकिक सामर्थ्य

प्रकट कर देती हैं कि सहस्रों परिवत्सरसे अपने प्रभुसे बिछुडा हुआ जीव अपने कालजर्जरित देहेन्द्रियामें एक ऐसी विलक्षण शक्ति या नूतनताका अनुभव करने लग जाता है कि उसे भगवान्की रसात्मिका अनुभूति सभी तरहसे होने लग जाती है। न केवल इतना अपितु नित्यलीलामें भी उसे नूतन देह मिल जाती है, श्रीयमुनाके कारण।

८।श्रीयमुनाके तटपर तथा जलमें भी श्रीकृष्णकी अनेकविध लीलायें आधिदैविक रूपमें सनातन चलती रहती है। श्रीयमुनामें जलक्रीडानिरत परमानन्दात्मक प्रभुका आनन्द ही श्रमजलकणोंके रूपमें उच्छलित हो कर श्रीयमुनाजलमें तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। अतः श्रीयमुनाजलस्नान पुष्टिभक्तोमें श्रीकृष्णके साथ अङ्गसङ्गकी अनुभूतिकी सिहरन पैदा करता है।

श्रीयमुनाका यह आधिदैविक स्वरूप समग्रतया लीलासामयिक पुष्टि भक्तोंकी अनुभूतिका ही विषय होता है। आंशिक रूपमें परन्तु आधुनिक पुष्टिजीवोंके लिए भी प्रतिबन्धकारी दोषोंका निवारण, स्वभावविजय, भगवद्भक्ति तथा भगवत्प्रेमभाजनता श्रीयमुनाके द्वारा सम्पादित होती है। अतः श्रीयमुनाकी कृपासे पुष्टिजीव पुष्टिमार्गमें प्रवेशयाग्य बनता है यह मङ्गलविधान श्रीयमुनाका कार्य है, अतः इनकी स्तुतिको पुष्टिमार्गीय उपदेशमें मङ्गलाचरणके रूपमें योजित किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण वि। सं। १९८५ में प्रकाशित हुए संस्करणाका ओफसेट द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है। श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण-विद्यानिधि-श्रीव्रज
रत्नलालजी महाराजकी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा (सूरत) द्वारा यह प्रकाशित हुआ था तथा इसके सम्पादक थे श्रीचीमनलाल ह। शास्त्रीजी। श्रीयमुनाष्टकम्के पुनःप्रकाशनके अवसरपर इन दोनों महानुभावोंके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञताज्ञापन प्रकट करते है। इति शम्।

श्रीयमुनाष्टकम्।

श्रीमत्प्रभुचरणविनिर्मिता विवृतिः।

ॡम्

नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा
मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम्।
तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना।
सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्।।१।।
कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्जवला।
विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता।
सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढदोलोत्तमा।
मुकुन्दरतिवर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता।।२।।
भुवं भुवनपावनीमधिगतामनेकस्वनैः।
प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः।
तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुका।
नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम्।।३।।
अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते।
घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे।
विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते।
कृपाजलधिसंश्रिते मम मनस्सुखं भावय।।४।।
यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका।
समागमनतो भवत्सकलसिद्धिदा सेवताम्।
तया सदृशतामियात्कमलजा सपत्नीव यत्।
हरिप्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम्।।५।।
नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं।
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः।।

यमोऽपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति दुष्टानपि।
प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिका:।।६।।

ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता।
न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये।।
अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्।
तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितै:।।७।।

स्तुतिं तव करोति क: कमलजासपत्नि प्रिये।
हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षत:।।
इयं तव कथाऽधिका सकलगोपिकासङ्गम।
स्मर श्रमजलाणुभि: सकलगात्रजै: सङ्गम:।।८।।

तवाऽष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा।
समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रति:।।
तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति।
स्वभावविजयो भवेद्वदति वल्लभ: श्रीहरे:।।९।।

श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम्।

श्री कृष्णाय नमः।

श्री गोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

।।श्रीयमुनाष्टकम्।।

।।श्रीमत्प्रभुचरणविनिर्मिता विवृतिः।।

श्रीहरिरायचरणप्रतीतेन तट्टिप्पणेन, श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतया श्रीप्रभुचरणविवृतिविवृतिविवृत्या च समनुगतम्।

मूलम् – नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा

।।श्रीमत्प्रभुचरणविनिर्मिता विवृतिः।।

विश्वोद्धारार्थमेवाऽऽविर् भूतवृन्दावनप्रियाः।
कृपयन्तु सदा तातचरणा मयि विट्ठले।।१।।

श्रीहरिरायप्रणीतं श्रीप्रभुचरणविवृत्तिटिप्पणम्।

श्रीकृष्णाय नमः। अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीयमुनाष्टकविवृतिं विरचयन्तः प्रथममाचार्यवर्यस्वरूपमेतत्सजातीयधर्मवत्त्वेन निरूपयन्तः स्वस्मिन्विवृत्तिकृतिशक्ति सिद्धये तत्कृपां प्रार्थयन्ति विश्वोद्धारार्थमिति। प्राकट्यप्रयोजनमेतम्। अत्र विश्वपदं सर्ववाचकम्। तदपि सङ्कुचितवृत्ति। ''सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः'' इतिवत्।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता श्रीप्रभुचरणविवृतिविवृतिः।

श्रीमद्वल्लभनन्दन दासेऽस्मिन् कृपय साधनैः शून्ये।
श्रीयमुनाष्टकविवृतिं विवरीतुं काङ्क्षते यतः करुणाम्।।१।।

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीमदाचार्याणां स्वस्य चाऽवतारप्रयोजनं तत्र श्रीयमुनाया निर्वाहकत्वादष्टककरणं चाऽनुसन्धाय श्रीयमुनाष्टकविवृतिं विरचयिष्यन्तस्तत्साफल्याय श्रीमदाचार्यान् प्रार्थयन्ति विश्वोद्धारार्थमिति। विश्वोद्धारार्थं

श्रीयमुनाष्टकम्।

श्रीहरिरायप्रणीतं विवृत्ति्।

तथा च, पुष्टिमार्गाङ्गीकृतानामेव जीवानामत्रोद्धार इति ज्ञेयम्। अयं च पुष्टिप्रभोः श्रीयमुनायाः श्रीमदाचार्यचरणानां च समानो धर्मः। भगवता व्रजस्थानां श्रीयमुनया अपि प्रभुसम्बन्धसम्पादनेन प्रभुप्राकट्यकरणेन च तासामेवाऽस्मत्स्वामिभिरपि तथाविधानामिदानीन्तनानामुद्धारात्। विशेषस्त्वेतावानेव। भगवता श्रीयमुनया च लीलासृष्टिस्थानामेव तथाकरणम्। इदानीन्तनानां प्रभुपारोक्ष्येऽस्मत्प्रभुभिरिति। एवं च सति त्रयाणां सजातीयधर्मवत्त्वे च सिद्धम्।

भगवान् विरहं दत्वा भाववृद्धिं करोति हि।
तथैव यमुना स्वामिस्मारणात्स्वीयदर्शनात्।।१।।
अस्मदाचार्यवर्यास्तु ब्रह्मसम्बन्धकारणात्।
तापक्लेशप्रदानेन निजानां भाववर्द्धकाः।।२।।

उद्धारोऽत्र भगवदासक्तिसम्पादनेन प्रपञ्चात्पृथक्करणम्। तेन सर्वात्मभावदानमेव स इति बोध्यम्। एवकारोऽत्र प्रयोजनान्तराभावाय। एतेन मायावादखण्डनब्रह्म वादस्थापनकर्ममार्गप्रवर्त्तनादिकमानुषङ्गिकमिति सूचितम्। स्वरूपमाहुः–आविर्भूतेति। आविर्भूतो व्रजजनहृदयेभ्यो लीलाकरणार्थं यो वृन्दावनप्रियः सदानन्दस्त द्रूपास्त इत्यर्थः। यथा भगवान् लीलाप्राकट्यायैव रसात्माऽऽविर्भूतस्तथैतेऽपि श्रीभाग वतविवृत्तिप्रकटीकरणेन तत्प्राकट्यार्थमेवाऽऽविर्भूता इति भावः। अथवा, वृन्दावनमेव प्रियं यासाम्, भगवद्विरहे तदर्थमपि तदपरित्यागात्। ताः स्वामिन्यः। आविर्भूताश्च तास्तथाभूताः, ता एवैत इत्यर्थः। स्वामिनीभावेन प्राकट्यदशायां सेवादिकरणा

श्रीपुरुषोत्तम प्रणीता विवृतिः।

सदैव, सदैव, तदर्थं वा, सदा तदर्थमेव वा, कृपयन्त्विति सम्बन्धः। एतेन स्वस्य तदुद्योगस्तदावश्यकत्वं कृपालुत्वं च बोधितम्। तथाच कृपयाऽष्टकविवृतिभ्यां तं कुर्वन्तु कारयन्तु चेति भावः। श्रीमदाचार्यवतारप्रयोजनं तु ''अर्थं तस्ये'ति'' श्लोकेन ''सर्वोद्धारप्रयत्नात्मे'' त्यादिसन्दर्भेण च स्वयमेव ज्ञापितम्। तदत्र ''विश्वोद्धारा र्थमेवाऽऽविर्भूते'ति'' पदसमभिव्याहारेण बोधितम्। स्वावतारप्रयोजनं तु स्वनाम्ना, विदा ज्ञानेन ठाः शून्यास्तान् लात्यनुगृह्णातीति तदर्थात्। पदनिरुक्तिस्तु विदा इत्यत्र विभक्तिलोपे चर्त्वे ष्टुत्वे च कृते ''चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरि'ति वार्त्तिकाट्टस्य ठत्वम्। ''पौष्करसादेर्मते शर्येव अन्येषां मते त्वन्यत्राऽपी'ति कृष्णपण्डितैर्विस्तरेण व्याख्यानात्। यदि च नवीनमतमालम्ब्येदं नाऽऽद्रियते तदा तु–

---

१ भगवदास्यरूपस्य आचार्यरूपेण इति विशेषः। अ.

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

त्तद्भावभावनेन च तद्रूपत्वमिति भाव:। वस्तुतो भावात्मा भगवान्, ''रसो वै स:'' इति श्रुते:। तदास्यरूपत्वादेतेऽपि तथा। तथा श्रीयमुनाऽपि द्रवीभूतरसात्मकतत्स्वरूपत्वेन। तत्र यथा भगवतीव श्रीयमुनायामपि स्वामिनीभावेन स्त्रीरूपत्वं, तेन च तत्र सर्वाऽपि भगवल्लीला, भगवद्भावेन च भगवत्त्वं, विरहे भगवत्स्वरूपतद्दर्शनेन स्वामिनीसुखाय, तथाऽत्राऽपि प्राकट्यदशायां स्वामिनीभावेन सेवादिकृतौ तद्रुपत्वं, भग वद्भावेन भगवद्रूपत्वं, विरहे तासामन्तरास्यप्राकट्येन स्वरूपसम्बन्धिसुखदानायेति बोध्यम्। अत एवोक्तं श्रीवल्लभाष्टके– ''यस्मादानन्ददं श्रीव्रजजननिचय'' इति। यद्वा। आवि र्भूतं स्वस्वहृदयेभ्यो बहि:प्रकटीभूतं यद्वृन्दावनं तत्प्रियं यासाम्। अन्त:स्थितावपि बहि:प्राकट्यस्यैवाऽभिलषितत्वात्। अत एव ''वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्'' (१०।२१।१०) इति ताभिर्गीतम्। तथा च तादृक्तद्रूपत्वादस्मत्प्रभवोऽपि लीलाविष्करणाभिलाषिण इति ज्ञेयम्। तातचरणा इति सम्बन्धनिरूपणं तु पुष्टिमार्गीयाचार्य करुणासिद्धिर्यथाकथञ्चित्सम्बन्धसिद्ध्यैव भवति न त्वन्यसाधनैरिति बोधनाय।

देहेन भावतो वाऽपि सम्बन्ध: फलसाधक:।
पुष्टिमार्गे नाऽतिरिक्तं साधनं साधकं तत:।।१।।
नाऽयमात्मेत्युपनिषन्निषेधति यतोऽखिलम्।
नन्दादयो देहजेन प्रादुर्भावेन गोपिका:।।२।।

मयीति तत्कृपायोग्यत्वबोधनाय। सर्वसाधनराहित्येन केवलं तदीयत्वाद् अत एवैकवचनम्, अत एव सप्तश्लोक्यां ''तनोतु निजदासस्य सौभाग्यम्'' इति

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

''पररूपं तकारो लचटवर्गेषु''–तकार: पदान्तो लचटवर्गेषु परे पररूपमापद्यते– इति कौमारसूत्रात्। आवश्यकत्वमपि विवृतेरेतेनैव ध्वनितम्। आविर्भूतवृन्दा वनप्रिया इति। अत्र वृन्दावनस्य प्रिय:, वृन्दावनं प्रियं यस्येति वा वृन्दावनप्रिय:, आविर्भूतश्चाऽसौ स च आविर्भूतवृन्दावनप्रिय इति तत्पुरुषबहुव्रीह्यन्यतरगर्भ: कर्म धारय:। तथाच तदभिन्ना इत्यर्थ:। अत्र भगवत्पक्षे अभेदो वास्तव:। ''वस्तुत: कृष्ण एवे''त्याद्युक्ते:। व्रजभक्तपक्षे तद्भाववत्त्वकृतसारूप्यनिबन्धन:। ''तत्सारभूते'ति'' नामनिर्देशात्। तातचरणा इत्यत्र चरणपदं बहुवचनं च पूजार्थम्। ''जीवत्सु तातपादेषु'' ''मुद्रे ब्रूहि सलक्ष्मणा: कुशलिन: श्रीरामपादा'' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्, ''एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे'' इति वाक्याच्च ''जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्यामि'ति सूत्रे ''जात्या

---

१ तासामन्तरा स्वप्राकट्येनेति ग. २ तादृग्रूपत्वादिति ग.घ. ३ तन्मयत्वादिति ग.घ.

विविधलीलोपयोगिनीं कालिन्दीं स्तोतुकामा: श्रीगोकुलेशे यथा जीवै: नमनातिरिक्तं न कर्तुं शक्यं तथा कालिन्द्यामपीत्शयेनाऽऽदौ नमनमे–

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

प्रार्थना। विट्ठल इति नामग्रहणं नाम्नाऽपि तद्योग्यताद्योतनाय। ज्ञानशून्यानुग्राहकत्वं हि नामार्थ:। तस्य चाऽऽचार्यकरुणामन्तरेणासिद्धेस्त त्कृपयैव सामर्थ्यरूपया तादृशजनानुग्राहकत्वसिद्धि:। तदर्थमाचार्यवर्याणामेव प्रभुणाऽऽविर्भावितत्वात्। अस्मिन्मार्गे कृपैव साधनं फलं चेति बोधनाय कृपयन्त्वित्यभिहितम्। इदं साधनफलरूपत्वञ्च ''कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्ध्येदि'ति ''कृपानन्द: सुदुर्लभ'' इति निबन्धनिरोधलक्षणग्रन्थीयवाक्याभ्यामवमन्तव्यम्। एवमेकेन पद्येन प्रभुभि: स्वामीष्टप्रार्थनाप्रसङ्गेन निजाचार्यस्वरूपं निरूपितम्।

विविधलीलोपयोगिनीमिति। आचार्यचरणानां हि प्रभुलीलासम्बन्धोऽभिलषित:। अत एवाऽग्रे तनुनवत्वप्रार्थनम्। स च तादृक्तत्सम्बन्धिपरितोषणेन भवति। तच्च यथास्थितरूपनिरूपणेन स्तुत्येति श्रीयमुनाया लीलासम्बन्धित्वबोधनाय विविधलीलोपयोगिनीमित्युक्तम्। विविधा: स्वरूपगुणभेदेन सर्वात्मभावकामभावादिभेदेन शास्त्रीयाशास्त्रीयप्रकाराभ्यां नानाप्रकारा या भगवत: स्वामिनीभि: सह लीलास्तासु अलौकिकशरीरसम्पादकत्वेन प्रभुसम्बन्धसम्पादनेन भावजनकत्वादिभिश्च तथेत्यर्थ:। कालिन्दीमिति। यद्यपि यमुनामिति वाच्यं तद्भिन्नत्वादस्या:, तथापि कालिन्दीमूलरूपत्वं तस्यां बोधयितुं भगवति ''देवकीजठरभूरि'ति वाक्यात्'' ''देवकीसुतपदाम्बुजे'' तिवाक्याच्च देवकीसुतत्वोक्तिवदत्राऽपि कालिन्दीत्वोक्तिरितिवेद्यम्। किञ्च। प्रभुसम्बन्धप्रतिबन्धकदोषनिवृ

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृति:।

ख्यायामि'ति योगं विभज्य पूजायामेकत्वे बहुवचनं प्रयुक्तमित्यदोष:। एवं कृपाप्रार्थनयाऽऽर्थिकनमनात्मकं मङ्गलं विधाय विवक्षितोद्धारस्य भजनानन्दावाप्तिरूपत्वात्तत्र च भक्तिमत्कृतस्य दैन्यस्यैव साधनत्वात्तद्धृदि कृत्वा भक्तिस्तत्प्रतिबन्धनिवृत्ति: तत्तदुपयोगिपरिकरसम्पत्तिश्चाऽर्थज्ञानपूर्वकाष्टकपाठेन भविष्यतीति ज्ञापनाय स्तोतव्याया: श्रीकालिन्द्या: स्वरूपमुपकारकत्वं कृपावत्त्वं च बोधयन्त एवाऽऽद्यश्लोकमवतारयन्ति विविधेत्यादि। अत्र विविधलीलोपयोगिनीमित्यनेन हेतुगर्भेण विशेषणेन स्तुतिप्रयोजकं

---

१ भेदेन चेति ख. २ अस्यामिति ख.

वाऽऽहुर्नमामीति। भगवताऽष्टविधैश्वर्यं कालिन्द्यै दत्तमिति ज्ञाप-

---

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

त्तये वा तथोक्तिः। कलिं दोषं द्यति खण्डतीति कलिन्दस्तस्याऽपत्यमिति तादृग्धर्मवत्त्वेन भक्तप्रतिबन्धनिवर्त्तकत्वात्। अत एवाऽग्रे 'हरिप्रियकलिन्दये' त्यत्र तथैव व्याख्यातं प्रभुभिः। अनेन कालिन्दीपदस्याऽस्यां न धर्मवाचकत्वेन नामत्वं किन्तु धर्मविशिष्टतद्वाचकत्वेन विशेषणत्वमिति सूचितम्। स्तोतुकामा इति काम एव पूर्वं निरूपितः। अग्रे तु स्वरूपमाहात्म्यस्फूर्त्या स्तुतिकरणमशक्यमिति "स्तुतिं तव करोति कः" इत्यनेन निरूपणीयमिति भावः। श्रीगोकुलेश इति। पुष्टिमार्गीयो लोकवेदाप्रसिद्धः पुरुषोत्तम एतत्पदेनोक्तः। तत्र लीलासृष्टिप्रवेशमन्तरा गमनाभावेन साक्षात्कारासम्भवात्परोक्षस्थितैर्नमनमेव स्वदैन्याविष्कृतये कार्यं यथा तथा लीलासृष्टिप्रवेशमन्तराऽत्राऽपीति भावः। अत एवाऽऽचार्यवर्यैः-"नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्त्वतामि'ति द्वितीयस्कन्धीयपद्यविवृतौ "गमनाभावान्नमनाधिकार" इत्याभिहितम्। आदाविति। अग्रे तु "मम मनः सुखं भावय" "ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमि" त्यादि प्रार्थनीयमिति भावः। नमनमेवेत्येवकारः पूर्वमग्रिमप्रार्थनीयास्फूर्त्त्या तदतिरिक्तव्यवच्छेदार्थः। अष्टविधैश्वर्यमिति। भगवता दत्तमिति। अत्राऽयं भावः। भगवान् हि लोके स्वस्य रसात्मकं रूपं तादृशीं लीलां च प्रकटयितुं प्रादुर्भूय सर्वात्मभाववतीषु तथा लीलां चकार। तत्र तदधीनत्वमङ्गीकृत्य सर्वाऽपि कृतिस्तदतिरिक्तास्फूर्त्तिश्च। अन्यथा रसात्मकत्वं न स्यात्। एवं सति सर्वमेतदैश्वर्यविरोधीति लीलासृष्टौ तत्कार्यार्थं लीलोपयोगिन्यां स्वामिनीभगवत्सम्बन्धिन्यां श्रीयमुनायां तत्स्थापितवानिति भगवता दत्तमित्युक्तम्। स्वयं तु रसात्मकत्वेन तदधीनस्तदतिरि

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

रूपमुक्तम्। अनेन स्तोत्रेण स्तुत्या प्रसन्ना स्तोतॄणां लीलासम्बन्धं कारयिष्यतीति च ध्वनितम्। श्रीगोकुलेशपदेन "अन्ह्यापृतं निशि शयानमि'ति" वाक्योक्तं निःसाधनफलात्मकं "तस्मान्मच्छरणं गोष्ठमि" त्याद्युक्तं दीनबन्धुत्वं च बोधितम्। न कर्त्तुं शक्यमित्यनेन साधनान्तराणां फलानुपधायकत्वम्। अतिदेशेन तद्धर्मवत्त्वम्। नमनपदेन कायादित्रयव्यापारात्मकमत्र नमनं सङ्गृह्यतेऽतो न चोद्यावसरः। आदौ नमनोक्तेरयमेवाऽऽशय इत्यत्र गमकमाहुः भगवतेत्यादि। अन्यथा श्लोक

---

१ धर्मिवाचकत्वेनेति ख।ङ. २ पूर्वनिरूपित इति ग।घ. ३ स्तुतिकरणमप्यशक्यमिति कः क.ख.घ.ङ. ४ परोक्षस्थितैर्जीवैरिति च. ५ भा. स्कं. २।४।१४.

मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम्।

नयाष्टभि: श्लोकै: स्तुवन्ति । सांक्षाभ्दगवत्सेवोपयोगिदेहाप्तितल्लीला–

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

क्तस्फूर्तिरहितश्चेति। तच्चैश्वर्यमष्टविधं पुष्टिमार्गीयम्। तथाहि। १।सकलसिद्धिहेतुत्वं, २।भगवद्भाववर्द्धकत्वं, ३।भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धनिराकरणेन तदनुभवयोग्यताहेतुशुद्धिसम्मादकत्वरूपं भुवनपावनीत्वं, ४।भगवत्समानधर्मवत्वादनायासेन तत्सम्बन्धसम्पादकत्वं, ५।भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वं, ६।भगवदीयोत्कर्षाधायकत्वं, ७।भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वं ८।तनुनवत्वसाधकत्वं चेति। इदं च लीलासृष्टिस्थेष्वेव ज्ञेयम्। तत्रैव तदधिकारात्। आधुनिकानां तु तदर्थप्रकटिततदास्यरूपादेव सर्वमिति विमर्श: सिद्धिस्वरूपं विवृण्वन्तीतरवैलक्षण्याय सिद्धयन्तर भ्रमनिवारणाय चे साक्षादित्यादिना। स्वरूपादिषु परम्परासेवने तु नाऽलौकिकं देहमपेक्ष्यते। किन्तु निवेदनाख्यसंस्कारसंस्कृतं लौकिकमेव। तत्र भगवताऽपि सावरणत्वेन जीवस्य साक्षात्स्पर्शाभावात्। लीलाप्रवेशे तु साक्षात्स्पर्शाय तदपेक्षेति साक्षात्पदमुक्तम्। लीलावलोकनमपि सिद्धिरेव। यथा योगजधर्मेण योगि नामतीन्द्रियपदार्थ दर्शनसिद्धिस्तथा श्रीयमुनासेवनधर्मेणाऽपि गुणातीतप्रभुलीलादर्शन सिद्धिरिति भाव:। तथा तद्रसानुभवश्च लीलोपयोगिन्योभयसम्बन्धिन्या मध्यस्थयैव भवतीति तदनुभवरूपा सिद्धिरप्येतत्सेवनेन भवतीत्यर्थ:। सर्वात्मभावसिद्धिरपि भगवत्स्वरूपत्वाद् भगवतेव तद्धृदयग्रहणेन वशीकरणाद्भवतीति तत्सेवनाधीनैवेत्यर्थ:।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

सङ्ख्ययाऽत्र भगवत्साम्यं न बोधयेयुरतस्तथेत्यर्थ:। सङ्ख्याया: प्रयोजनवत्त्वं जातेष्ट्यधिकरणे सिद्धम्। ऐश्वर्यदाने गमकमाद्यविशेषणमेवेत्याशयेनाऽऽध्यात्मिकाधिभौतिकव्यवच्छेदाय च तदैश्वर्यदेयं विवृण्वन्ति साक्षादित्यादि। अत्र च यदीश्वरा न स्यादुक्तसिद्धिनिमित्तभूता न स्यादिति कार्यलिङ्गकानुमानगर्भेण तर्केण तत्सत्ता साधिता। सिद्धिविवरणेन चैश्वर्यमत्र नैकादशस्कन्धोक्ताणिमादिरूपं विवक्षितम्, किन्त्वेतत्स्तोत्रोक्तं भक्तिमार्गीयसामर्थ्यविशेषरूपम्। अणिमादिमतामपि सनकादीनामुक्तसिद्धिदानादर्शनेन तत्र तदभावनिश्चयात्। तदप्यैश्वर्यं विवृतं श्रीहरिरायै:। तथाहि उक्तसकलसिद्धिहेतुत्वमेकम्। भगवद्रतिवर्द्धकत्वं द्वितीयम्।

---

१ सर्वत्र मूर्धन्यान्त एव पाठ उपलब्धा: ष इति स एव पूर्वं स्वीकृत: अस्माभिस्तु श इति लभ्यते. अ. २ सिद्धान्तान्तरेति ग–घ. ३ निराकरणायेति ङ. ४ चेति नास्ति. ङ.

तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना।

सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्।।१।।

वलोकनतद्रसानुभवसर्वात्मभावादयः सकलसिद्धयो ज्ञेयाः। अत एव नमनं मुदपि । जलदोषात्मकमुरस्याऽरेः पदपङ्कजयोः स्फुरन्ति सेवोपयोगि देहादिसम्पादनोन्मुखा ये रेणवोऽमन्दा व्रजसुन्दरीवृन्दचरणरेणुसाहि त्येनाऽनल्पास्त उत्कटा जलापेक्षयाऽधिका यत्र । एतेन दोषभयं भगव

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

अत एवोक्तं प्रभुभिरेत दष्टपद्याम्–"धारित श्रीकृष्णयुतभक्तहृदय" इति। आदिपदा द्वियोगेऽप्यन्तः प्राकट चात्कोशप्रतिमान्यायेन भगवदाविष्टदेहसिद्धिः, परावृत्तचक्षुषाऽन्तर ाविर्भूतप्रभुलीलावलोकनसिद्धिः, भावात्मकस्वस्वरूपेण तदात्मकतद्रसानुभव सिद्धिः, विरहसामयिकसर्वात्मभावसिद्धिः स चबर्हिं गवत्प्राकट्यापेक्षाराहित्येनाऽऽन्तरतद्भावनारूपो वेद्यः। एवमष्टसिद्धयो ज्ञेयाः। अत एवेति यत एतादृशोत्कर्षवत्त्वमस्यामस्तीति स्फूर्त्तिरत एव स्वनमनमेवम्भूत श्रीयमुनाप्राकट्येनाऽलभ्यलाभान्नमने हेतुर्मुदेवेति मुदपीत्युक्तमित्यर्थः। जलदोषात्मकेति। भक्तानां भगवत्सम्बन्धे भगवतश्च भक्तसम्बन्धे जलं प्रतिबन्धकं, पारस्थिततदप्राप्तेः। तस्य च न श्रीयमुनावन्मार्गदातृत्वम्। तथा सति प्रतिबन्धकं न स्यात्। अतो दैत्यसम्बन्धादेवेदं जलं प्रतिबन्धकम्। अतो न जलस्य दोषः। तस्य तूपायेनाऽपि प्रापकत्वात्। तस्माज्जले यो दोषो भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकरूपः स मुर एवेति तस्मिन्निवृत्ते स्वत एव भगवत्प्राप्तिरिति जलदोषात्मकेत्युक्तम्। एतेनेति। चरणरेणुषु मुरारिसम्बन्धेन स्फुरत्पदबोधितसेवोपयोगि

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धनिराकरणेन तदनुभवयोग्यतानुकूलशुद्धिसम्पादकत्वभुवन पावनीत्वं तृतीयम्। भगवत्समानधर्मवत्त्वादनायासेन भगवत्सम्बन्धसम्पादकत्वं तुरीयम्। भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वं पञ्चमम्। स्वसेवनाद्गोपिकावद्भग वत्प्रियत्वसम्पादकत्वं षष्ठम्। तनुनवत्वसम्पादकत्वं सप्तमम्। लीलासामयिक प्रभुश्रमजलकणसम्बन्धसम्पादकत्वमष्टममिति। इदं च यथाधिकारं लीलास्थेषु

---

१ स्वरूपेणेति क-ङ. २ एतेनेत्यारभ्य तदुभयमपास्तमिति भाव इत्यन्तो ग्रन्थः "सुरासुरेत्या" रभ्य "तथैव तत्सत्त्वादि" त्यन्ताद्ग्रन्थात्परतो लेखकदोषात्सर्वत्र पतितः क-ख-ग-घ-ङ-अ. चपुस्तके तु यथानिवेशमुपलब्धः, एष एव च युक्तः, व्याख्येयविवृतिक्रमानुरोधात्म।

त्प्राप्तिविलम्बश्चाऽपास्त: । अग्रे स्पष्टम्र । जलदर्शनस्य भगवत्समारकत्वं भावजनकत्वं च ज्ञापयितुं स्मरपितृपदम् ।।१।।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

देहादिसम्पादनोन्मुखत्वकथनेन चेत्यर्थ:। तथाच स्वप्रयत्नदोषनिवारकसम्बन्धेन चरणरेणूनां कार्योन्मुखत्वनिरूपणेन च तदुभयमपास्तमिति भाव:। सुरासुरसुपूजितेतिमूले। वस्तुतस्तु सर्वात्मभावकामभावयुतस्वामिनीभि: पुष्पाभरणैरलङ्कृत: सन् भावजनक इत्यर्थ:। दार्ष्टान्तिके तु तत्पूजितत्वं दैन्यभावमानभावयुतोभयविधस्वामिनीपूजितत्वेन ज्ञेयम्। दैन्यभाववतीनां प्रभुप्राकट्यार्थं मानभाववतीनामनुनयकरणार्थं तत्पूजनात्। पूजनं चाऽत्र तत्परतयाऽनुसरणमेव। दृष्टान्ते तथैव तत्सत्त्वादिति भाव:। भगवत्स्मारकत्वमिति। स्मरपितृपदे स्मरपदेन स्मरणमुच्यते। तज्जनकत्वं च। स्मरणं स्मर इति व्युत्पत्ते:। अत एव छान्दोग्योपनिषदि ''स्मरो वा आकाशाद्भूय'' इत्यत्र स्मरणमेव स्मरपदेनाऽभिमतम्। कामस्य त्वत्राऽप्रसक्ते:। दोषनिरूपणप्रस्तावे हि तन्निरूपणं घटते। न तु सर्वविज्ञानायोत्तरोत्तरं भूयो निरूपणप्रस्तावे। तथाच श्रीयमुनायामपि तादृग्भगवच्छ्रीधारकत्वोक्त्या प्रभुधर्मस्मरणजनकत्वसत्त्वेन भगवत्स्मारकत्वमिति भाव:। भावजनकत्वं तु कामजनकभगव

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

प्रकटयति। स्वदासेष्वाधुनिकेषु त्वेतदष्टकोक्तं फलं भगवदिच्छानुसारेण ददती किञ्चिदेकं द्वयं प्रकटयतीति स्तोत्रान्त्यश्लोकादवसीयते। प्रकृतमनुसराम:। अत एवेति। दीनबन्धुत्वसिद्धिदातृत्वाभ्यामेवेत्यर्थ:। ननु दोषबाहुल्ये दैन्यस्य न दयोत्पादकत्वं लोके दृष्टमतस्तेषु विद्यमानेषु किं स्तोत्रेणेत्याकाङ्क्षायां द्वितीयं विशेषणं विवृण्वन्ति जलेत्यादि। एतेनेति। मुरारिपदामन्दपदघटितेनाऽनेनेत्यर्थ:। अत्राऽसुरादिपदं विहाय मूले जलदोषात्मकमुरपदं यदुक्तं तद्विवृतौ च यज्जलपदं तच्छ्रीभागवते ''दैत्य: पञ्चशिरा जलादि''ति कथनादुक्तं बोध्यम्। जलपदस्य डलयोरभेदेन जडपर्यन्तत्वं तेन तत्र भगवतत्सम्बन्धिमहादोषनिवर्त्तकत्वमभिप्रेयत इत्याशयं गमयितुम्। तेन दाम्भिकादीनां न निवर्त्तयतीति ध्वनयन्ति। तावता- ''अश्रद्धान: पापात्मा

---

१ वस्तुतस्त्वित्यादिर्ग्रन्थो नास्ति क-ग-घ. २ अपीति म.घ.अ. ३ तत्राऽप्रसिद्धेरिति ग.घ. ४ प्रभुधर्मस्मरणजनकसत्त्वेनेति क. प्रभुस्मरजनकसत्त्वे इति ग. प्रभुस्मरणजनकसत्त्वे इति घ. प्रभुधर्मस्मरणजनकत्वेनेति ख.ङ.च. प्रतिभाति त्वेवम्। ५ भावजनकत्वमित्यारभ्य स्पष्टमेवेत्यन्तोंऽशो नास्ति किन्तु ''भगवत्स्मारकत्वमिति भाव'' इतीयं पूर्वपङ्क्तिरेव ''भगवत्स्मारकत्वं स्पष्टमेवे'ति रूपेण वर्त्तते ग.घ.

कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला।

आविर्भावप्रकारमाहु: कलिन्देति । रविमण्डलातिदूराद्रिरिमस्तके

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

च्छ्रीधारकत्वेन स्पष्टमेव। तदा स्मरपदं कामवाचकमेव। तेनाऽत्र स्मरपदेऽर्थद्वयमप्यभिप्रेतमित्यर्थ:। तथा च यथा भगवति दृष्टे ''निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुमृगा'' इति वाक्याद्भावजननं पूर्वानुभूतलीलाविशिष्टप्रभुस्मरणं तथा तादृग्भगवत्स्वरूपाया मेतस्यां दृष्टायामपीति भाव:।।१।।

भगवत इवाऽलौकिकप्रकारेणाऽत्राऽऽवि र्भाव इति ज्ञापनायाऽऽहुराविर्भावप्रकारमिति। यथा भगवान् वसुदेवदेवकीसमक्षमाविर्भूतो वरदानाय, यथा वा तपसा पूर्वानुभूतभगवद्विरहेण च तापात्मकात्तदुभयहृदयाद् यथा वा आवि र्भूयाऽन्यत्र केवललीलास्थाने गोकुले प्रयातस्तत्र गत्वा सर्वात्मभाववद्भक्तसंवलितो

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

नास्तिकोऽच्छिन्नसंशय:। हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिन'' इति वाक्योक्तानां दोषं न दूरीकरोतीति सिद्ध्यति। तृतीयं विवृण्वन्तस्तदेकदेशस्योत्तानार्थत्वमाहुरग्रे स्पष्टमिति। सुरासुरपदाभ्यां द्विविधाधिकारिणो: सुपूजितपदेन पूजाङ्गीकारस्य च शीघ्रं प्रतीतेस्तथेत्यर्थ:। तटस्थनवकानने प्रकटो मोद आनन्दो यैस्तादृशपुष्पयुक्तेनाऽम्बुनेत्येवं तृतीयान्तार्थ:। स्मरपितृपदेन प्रद्युम्नजनकत्वस्य शीघ्रं प्रतीतेस्तद्वारणाय तद्विवृण्वन्ति जलेत्यादि। भगवतस्तथात्वं ''यं मां स्मृत्वा निष्काम: सकामो भवती'ति'' तापनीयश्रुतेरपि सिद्धम्। पूर्वं निष्कामस्य भगवत्स्मरणेन भगवद्विषयकस्यैव तस्य जननात्। तत्साम्येनाऽत्राऽपि तथात्वात्। एवञ्चैताभ्यां विशेषणाभ्यां यद्दोषनिवर्त्तकत्वं भावजनकत्वं चोक्तं तत्पूर्वविशेषणोक्तसिद्धिदातृत्वसहकारित्वायेति बोध्यम्। अनुग्रह: सर्वत्र बीजमिति न क्वाऽपि कोऽपि चोद्यावसर:।।१।।

ननु नदीत्वे साधारणेऽपि कथमत्रैवैष विशेष इत्याकाङ्क्षायामाधिदैविक्यां विशेषं वक्तुं द्वितीयं श्लोकं वदन्तीत्याशयेन द्वितीयमवतारयन्त्याविरित्यादि। आधिदैविक्या: सृष्टेर्वेदाधारत्वं देवताविग्रहाधिकरणे ''शब्द इति चेदि''ति सूत्रस्य भाष्ये मतान्तरापाकरणपुरस्सरं व्युत्पादितम्। रवेर्वेदात्मकत्वं च तैत्तिरीयाणां बृहन्नारायणोपनिषदि ''आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपती'' त्यनुवाके श्रावितम्। तदन्त:स्थितस्य पुरुषस्य परब्रह्मत्वं च अन्तस्तद्धर्माधिकरणे व्यासचरणैरेव निर्णी–

विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता।

पाते फेनेन प्रवाहजलेन चोऽऽवला । उच्चनीशैलारोहावरोहौ विलासगति

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

जातस्तत्र लीलां च प्रकटितवान् तथा श्रीयमुनाऽपि प्रथमं सूर्यमण्डलान्तर्वर्त्तिनारायणहृदयादानन्दमयादाविर्भूता द्रवीभूतरसात्मिका, ततस्तापात्मकाद्रविमण्डलात्कलिन्दोपरि समागत्य भूमावागता ततो लीलास्थाने समागत्य तादृग्भक्तसंवलिता जातेत्यर्थः।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

तम्। मधुविद्यायां च ''यश्चाऽयमादित्ये तेजोमय'' इत्युपक्रम्य ''अयमेव स योऽयमि'ति तस्य व्यापकत्वमपि श्रावितम्। पाद्मे यमुनामाहात्म्ये च ''त्रय्येषा ऋग्यजुः-साम्नामादित्य इति गीयते। सम्यग्ज्ञानं च यत्तेषां विश्वेषां कर्मणां मुने। सञ्ज्ञेति साऽस्यां यो धर्मो धर्मराजः स उच्यते। रसो यः परमाधारः सच्चिदानन्दलक्षणः। ब्रह्मेत्युपनिषद्गीतस्तदेव यमुना स्वयमि'ति। ''दिवसे-दिवसे भानुरादायाऽऽदाय वत्सलः। उदयाचलतः पुत्रीं नयत्यस्ताचलं मुने। यमुनाऽपि ततो नित्यं गच्छन्त्यास्तेऽक्षयाऽव्यया। विशन्त्योघेन साऽदित्यमुदयाद्रौ पुनः-पुनः। एवं भूमौ तथाऽऽकाशे घटीयन्त्रमिवाऽनिशम्। यमुनाऽस्तोदयाद्रिभ्यां भ्रमन्त्यास्तेऽमक्षयोदके'ति वसिष्ठवाक्यं च हृदिकृत्य ''ममोदरं प्रविश्य त्वं गच्छ चाऽऽदित्यनन्दिनि। कालिन्दीति तव ख्यातिरस्तु लोकत्रये सदे'ति कलिन्दकृतवरप्रार्थनं च हृदिकृत्याऽऽचार्यैर्मूले पद्मबन्धोः सुतेत्युक्तमित्याशयेन रविमण्डलापादानकत्वोक्तिपुरस्सरं प्रथम विशेषणं व्याकुर्वन्ति रवीत्यादि। अत्र वर्षावद्रश्मिभ्यो नोत्पत्तिः किन्तु स्वरूपादित्याशयेन मण्डलस्याऽपादानत्वोक्त्या पूर्वोक्तरीतिकवेदाधारत्वस्फोरणेन तत्राऽऽधिदैविकत्वं दृढीकृतम्। तथैवाऽधिकरणकथनेन सौरगत्यनधीनपातत्वबोधनात्तदन्तः स्थितादेवाऽगमनं न भौतिकाद्रवेरिति निश्चायितम्। तृतीयान्तद्वयेनोज्जवलत्वस्याऽऽगन्तुकत्व बाह्यत्वबोधनात् स्वरूपश्यामत्वस्याऽबाधो ध्वनितः। तेनाऽऽपाततो दर्शनविरोधोऽपि परिहृतः। अतः परभुक्तविशेषणस्थममन्दत्वं द्रढयितुं विलासगमनेत्यादि द्वितीयं विशेषणमित्याशयेन तद् व्याकुर्वन्ति उचचनीचच।।।इत्यादि। एवं क्रियाविशेषकृतशोभया प्रवाहाविच्छेदबोधनेनाऽमन्दत्वं स्थिरीकृतम्, तेनाऽपादानस्य व्यापकत्वेऽपि प्रदेशभेदस्य विद्यमानत्वान्मूलधाम्न एव समागमनं स्फोरितम्। अथ तद्गमकं

सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढदोलोत्तमा।

मुकुन्दरतिवर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता।।२।।

रुपौ। तत्रोल्लसन्तः शोभां प्राप्नुवन्तः प्रवाहवेगेनोच्चैः क्षिप्ता अत एव प्रकटाः सर्वेषां दृश्यास्तैस्तादृशैस्तथा। उच्चतः पाते शोभामुक्त्वा ततो विषमभूमिगतिशोभामाहुः सघोषेति। दन्तुरशब्देन विविधविकारवत्त्वमूच्यते। 'विपुलपुलकभरदन्तुरितम्' 'केतकीदन्तुरिताश' इत्यादिजयदेवोक्तिरपि।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

घनीभूतरसात्मा हि जातो नन्दगृहे हरिः।

केवलो धर्मयुक्तस्तु वसुदेवगृहे तथा।।१।।

शब्दात्मा गुणगानादौ वदनादुद्गतः स्वतः।

द्रवीभूतरसात्मैषा सर्वाङ्गीणश्रमाम्बुभिः।।२।।

नारायणस्य हृदयाच्छुद्धसत्त्वस्वरूपतः।

प्रादुरासीन्मूलरूपपुष्टिलीलाप्रसिद्धये।।३।।

विषमभूमीति। पर्वतसम्बन्धित्वादित्यर्थः। वैषम्यं चाऽत्राऽल्पानल्पप्रस्तर

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

भगवन्मेलनोत्सुकत्वं बोधयितुं सघोषगतिदन्तुरेत्यग्रिमं विशेषणमित्याशयेन तद् व्याकुर्वन्तः पूर्वविशेषणवाच्योऽर्थ उत्तरत्राऽप्युपकरोतीत्याशयेन तमनूद्याऽवतारयन्त्यु चत इत्यादि। तत्र ''दन्तुरं तून्नतानमति''ति कोशोक्तस्य वाच्यार्थस्य पूर्वार्ध एव सिद्धेस्तदनुवादवैयर्थ्यादत्र लाक्षणिकोऽर्थोऽभिप्रेयत इत्याशयेन। विविक्षितमर्थमाहुर्दन्तुरेत्यादि। अत्र जयदेवोक्तिं सम्मतित्वेनाऽऽहुर्विपुलेत्यादि। पुलकेऽपि रोमकू पदेशे उच्छूनतेव भवतीति नोक्तार्थदार्ढ्यमिति द्वितीयमुदाहरणम्। उक्तमर्थं हेतूक्त्या द्रढयन्ति व्रजजनेत्यादि। समानो घोषो व्रजो यस्य तत् सघोषं व्रजजनादि। ''समानस्य छन्दस्य मूर्द्धप्रभृत्युदर्केष्वि'ति सूत्रे समानस्येति योगं विभज्य सपक्ष साधर्म्यादिशब्दाः काशिकायां व्युत्पादितास्तथाऽत्राऽपि। सदृशस्तुल्यो वासो घोषो यस्य तद्वा। अस्वपदविग्रहे बहुव्रीहौ सदृशार्थस्य सहस्य सभावेन कौमुद्यां ते साधितास्तथा वा। तथा च ''व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैरि'तिवत्तद्गतिभि र्विविधविकारवतीवेत्यर्थः। विकारश्चाऽत्र रसानुकूलो बाह्याभ्यन्तरो धर्मो बोध्यः यो रसशास्त्रे भावपदेनोच्यते। एतस्य पक्षस्य गौणत्वायोत्प्रेक्षावाचकपदप्रयोगः

व्रजजनगोवृन्दादिविविधगतिभिस्तादृशीव। घोषः शब्दो व्रजो वा। अनतिस्थूलशिलासु गतिशोभया असमधिरुढेव समधिरुढदोलोत्तमा।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

साहित्येनेति ज्ञेयम्। घोषः शब्दो व्रजो वेति। "घोष आभीरपल्ली स्यादि"तिकोषात् घोषो व्रजस्तेन सह वर्त्तन्ते, न कदाचिदपि तं विहायाऽन्यत्र प्रयान्ति निरोधस्थानत्वात्ते सघोषा व्रजजनादयस्तेषां तीरे गतिभिस्तथेत्यर्थः। शब्दपक्षे यथा प्रियाभिमुखं गच्छन्ती प्रिया अन्तरुद्गतरजोगुणजनितकामावेशेन गायन्ती तथोच्चैर्भाषमाणा गच्छति तथेत्यर्थः। व्रजपक्षे तु भाववत्संसर्गे भाववतां भावोदयजनितविविधविकारवत्त्वं लोकसिद्धमिति श्रीयमुनायामपि तथा निरूपितमित्यर्थः। असमधिरूढेवेति, पदच्छेदे अकारस्यापि प्रतीयमानत्वादसमधिरूढत्वमपि व्याख्येयम्। तथाचाऽसमाधिरूढेव समधिरूढदोलोत्तमा। यतो दोलाधिरोहेऽपि न तथा प्रतीतिः। भगवत्साम्मुख्यगमने तद्भाववैवश्येन गमनमात्रस्फूर्त्याऽऽरोह्यदोलास्फूर्तेर-

---

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

गौणत्वं तु व्रजजनसम्बन्धस्य समभूमौ सत्त्वेनाऽत्राऽभावात्स्वतस्तथात्वासिद्ध्या मूलधामागमनगमकत्वाभावाच्च ज्ञेयम्। अनेनैवाऽस्वरसेन पक्षान्तरं वदिष्यन्तो घोषपदस्याऽर्थावाहुः-घोषः शब्दो व्रजो वेति। शब्दपक्षे घोषेण सह वर्त्तमाना सघोषा तादृश्या गत्वा तथा। ससिञ्जिताभिसरणेनोत्कटानेकभावेत्यर्थः। अस्मिन् पक्षे नोत्प्रेक्षेति यद्यपि तदपेयाऽयमुत्तमस्तथापि लीलाया नित्यत्वेन मूलधाम्न्यपि व्रजसम्बन्धस्य सार्वदिकत्वात्प्रथमपक्षस्याऽपि नाऽसम्भवः। स्वाभाविकतथात्वपक्षश्चाऽऽवश्यक एवेति द्वयमपि सङ्गृहीतुं व्याख्यातविशेषद्वयस्य द्वितीयविशेषणार्थद्वयस्य च तात्पर्यमाहुरनतीत्यादि। "गण्डशैलास्तु ते प्राक्ताश्च्युताः स्थूलोपलागिरेरि'ति कोशे गिरिच्युतानां तथात्वकथनादनतिस्थूलशिलासु या गतिरुच्चनीचभावेन गमनं तत्र घोषेण यत्सिञ्जितवत्ताव्यञ्जनं सैव शोभा तया स्वयमसमधिरूढेव समानसौभाग्यानां साहित्यात्स्वयमपि पादचारिणीव। तथाच सेयमाधिदैविकी यद्यपि दोलास्थानीये आधिभौतिके जलरूपे आरुह्य गच्छतीत्यग्रिमविशेषणे वक्तव्यं, तथापि विलासगमनेत्यादिविशेषणद्वयवत्त्वादसमधिरूढेवेत्यर्थः। द्वितीयविशेषणप्रथमव्याख्याने घोषो व्रजसुन्दरीप्रभृतिवृन्दम्। तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः। तेन सह वर्त्तमाना सघोषा तादृश्या गत्या चरणचलनेन दन्तुरेव दन्तुरेति। "समासे पुंवत्कर्मधारयजातीयेष्वि"ति पुंवद्भावः। एवं शब्दपक्षव्याख्यानेऽपि ज्ञेयः। एवं सकल-

भुवं भुवनपावनीमधिगतामनेकस्वनैः।

ततो भूमावागत्य मूकुन्दरतिवर्द्धिनी जाता। यतो रसाकरसखस्य सुता। अतः स्वयमपि रसात्मिकेति भावः ।।२।।

*** ततो भुव्यागताया धर्मानाहुर्भुवमिति। प्रयोजनम्–भुवनपावनीमिति।**

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

समधिरूढेवेत्युक्तम्। ततो भूमावागत्येति, यथा भगवतो मथुरातो व्रजे समागतस्यैव स्वामिनीभाववर्द्धकत्वं तथा रविमण्डलादाविर्भूय कलिन्दपर्वतोपरि पतित्वा ततः कालिन्दीं स्वप्रविष्टां विधाय व्रजभूमौ समागताया एव लीलासृष्टिस्थेष्वेव मुकुन्दरतिवर्द्धिनीत्वमित्यर्थः। मुकुन्दरतिवर्द्धिनीत्यत्र षष्ठीसमासो ज्ञेयः। तथा च, मुकुन्दस्य भगवतः स्वामिनीषु रतिवर्द्धिनी। तस्या उभयसम्बन्धिनीत्वादिति भावः। रतिवर्द्धिनीत्वे हेतुरेव यतो रसाकरसखस्य सुतेत्यादिना निरूपितः।।२।।

भुव्यागताया धर्मानिति, भुव्यागमनं हि भगवतो रतिवर्द्धनाय। तत्र च

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

सिद्धिहेतुत्वदार्ढ्यार्थमाधिदैविकत्वमनेकधा समर्थयित्वा भूमौ लीलासम्बन्ध आधिभौतिकादिरूपद्वयविशिष्टायामस्तीत्यादिज्ञापनाय तदुभयसाहित्यं हृदिकृत्याऽग्रिमं व्याकरिष्यन्तः प्रथममाधिभौतिकसाहित्यमाहुः समधीति। दोला शिबिका, उवमत्वं तु तस्या अपि, अग्रे लीलासम्बन्धात्। समधिरूढा आविष्टा सा ययेत्यर्थः। अथाऽऽध्यात्मिकसाहित्यमग्रिमे विवृण्वन्ति ततो भूमावित्यादि। तत इति दोलारोहोरम्। भूमावागत्येति, दूराद्गिरिमूर्द्धपातक्लेशसहनपूर्वकं भूमावागत्य। एवमुभयसाहित्यात् ''कलिन्दतनयातटोन्मदे'' त्यादीनां न विरुद्धत्वम्। तथा पद्मबन्धोः सुतेत्यस्य 'जयति' क्रियाकर्त्तृत्वेन विशेष्यत्वेऽप्याधिदैविक्या नित्याया एव स्तुत्यत्वेन विवक्षितत्वात्तद्विचारेणाऽस्याऽपि विशेषणत्वमेव। तेन 'कालिन्दगिरी' त्यारभ्य ''पद्मबन्धोः सुते'' त्यन्तानि पञ्चाऽपि विशेणानि भगवद्रतिवर्द्धकत्वस्यैवोपकारकाणीति द्वितीयैश्वर्यवत्त्वमनेन श्लोकेन समर्पितम्। एतेन द्वितीयमैश्वर्य्यं रूपद्वयविशिष्टायामित्यपि ज्ञापितम्।।२।।

अतः परं रतिवर्द्धकत्वस्य दृढीकरणाय रतिजनका धर्मा अग्रिमे उच्यन्त इत्याशयेन तमवतारयन्ति ततो भुमीत्यादि। भुवनपावनीति श्रीयमुनाविशेषणम्। ''सप्तद्वीपान्

---

* ततो भूमीति पाठः श्रीपुरुषोत्तमचरणानाम् हस्ताक्षरग्रन्थे वर्तेते।

प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभि:।
तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुका-

अनेकस्वनैरिति शुकातदतवशेषणम् । एतेन विभावादिसामग्र्युक्ता । यत्र यथोचितं तत्र तथा कुर्वन्तीति प्रियापदम् । तीरस्य चाकचक्यवस्सिकता कृतशोभां तत्स्वरुपमप्याहुस्तरङ्गेति । यदा तरङ्गास्तीरमागत्य प्रसृता भवन्ति तदा तीरसिकता मुक्तावद्भसन्ते । ता न सिकता: । लोकप्रतीति: परं तथा । किन्तु तरङ्गा एव भुजास्तत्र यानि कङ्कणानि तत्र प्रकटा या

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

ये धर्मास्तदनुकूला अपेक्ष्यन्ते विभावादिसामग्रीसेविकासाहित्यस्वरूपसौन्दर्यादयस्तानित्यर्थ:। प्रयोजनमिति, रविमण्डलाद्भुव्यागमनप्रयोजनमित्यर्थ:।भुवनेति, भुवनं लोक: सर्वोऽपि लीलासृष्टिस्थतदतिरिक्तरूपस्तस्य भगवद्भावान्यभावराहित्यसम्पादनभगवत्सेवनार्हशरीरसम्पादनाभ्यां पावनीं शोधिकामित्यर्थ:। शुद्धिरत्र पुष्टिमार्गीयैव वाच्या। सा च पूर्वोक्तरूपैवेति तथेति भाव:। भगवति स्नेहातिशय इति, तरङ्गभुजेत्यादिविशेषणेनाऽप्राकृताखिलाकल्पभूषितत्वबोधकेन तथाविधेभगवति सजातीयतया स्नेहातिशयो द्योतित इत्यर्थ:। अप्राकृतानामप्राकृते वस्तुनि प्रीतिभरसम्भवस्योचितत्वादिति भाव:। नमत कृष्णतुर्यप्रियामितिमूले। तत्राऽयमाशय:। अत्र स्तोत्र विविधलीलोपयोगिनी श्रीयमुना प्रस्तूयते। तत्र च कृष्णतुर्यप्रियात्वमनुपपन्नम्। तस्य धर्मस्य कालिन्दीनिष्ठत्वात्। इयं च ततो भिन्ना,

---

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

सप्तराशींश्च वारामाराद्भित्वा प्राङ्मुखी पावयन्ती। यास्येऽस्ताद्रेरुद्गमाद्रिं विहर्त्तु खेलन्तीव स्वाश्रिताधापनुत्त्यै'' इति तत्रैव यमं प्रति श्रीयमुनावाक्यात्। अनेकस्वनैरित्यस्योपलक्षकत्ववारणायाऽऽहु: शुकादीति। प्रियापदं प्रियसखीबोधकमित्याशयेनाऽऽहुर्यत्रेत्यादि। चाकचक्यवत्सिकतेति चाकचक्यवत्यो या: सिकता इत्यर्थ:। विशेषणेनेत्येकवचननेतरयो: स्नेहबोधकत्वं द्योतितम्। तथा चेतराभ्यां स्नेहो बोध्यतेऽनेन त्ववस्थाविशेषकृतोऽतिशय इत्यर्थ:। तेन यदि भगवति स्नेहो न स्यान्मूलधाम विहाय भगवद्विचारितभुवनपावनात्मककार्यार्थं भुवं नैयात्। आगत्य च लीलार्थं ससामग्रीका न स्यात्। यदि तदतिशयो न स्यात्ता-

---

१ सेवकसाहित्येति च.

नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम्।।३।।

मुक्तिका मुक्ताफलानि तान्येव वालुकावत्प्रतीयमानानि तद्युक्तो यो नितम्ब एवोच्चदेशात्मकतटस्तेन तादृशीम्। भगवति स्नेहातिशयो विशेषणेनोक्तः ।।३।।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

''वसामि यमुनाजल इति वाक्यात्। यद्यप्यस्यामभेदेन भगववति देवकीपुत्रत्ववत्कालिन्दीत्वं वक्तुं शक्यम्, न तु तुर्यप्रियात्वम्, तदधिष्ठानत्वेन तद्रूपत्वोक्त्यौचित्येऽपि तद्धर्मवत्त्वोक्तेरनुचितत्वात्, असाधारणधर्माणां तद्रूपमात्रनिष्ठत्वेनोपासकैरन्यत्राऽविभावनीयत्वात्। अन्यथा भावने ''योऽन्यथा सन्तमात्मानमि'ति वाक्याद्दोषश्च''। न हि सीतापतिः पुरुषोत्तमोऽपि रसात्मक श्रीगोपीजनवल्लभत्वेनोपासकैर्विभाव्यते। अन्यधर्मवत्त्वेनाऽन्यरूपभावने ''तं यथा यथोपासते तथैव भवति तद्धैतान् भूत्वाऽवती'ति श्रुतेः स्वाभीष्टसाक्षात्कारा भावेन फलासिद्धेः। ननु रूपान्तरदर्शनोद्गतभावस्य रूपान्तरेण कथं फलसिद्धिर्यथा रघुपतिवर्यवितीर्णवरस्य श्रीव्रजनाथेनेति चेत्। सत्यम्। तत्र हि श्रीरघुनाथस्य गुरोरिवोपदेशद्वारा फलप्रापकत्वं स्वाविष्टमूलरूपत्वेन न तु साक्षात्तद्दातृत्वम्, मर्यादापुरुषोत्तमत्वात्। न हि तेन पुष्टिमार्गाङ्गीकार स्तत्फलदानं च शक्यते विधातुम्। तत्त्वं च दाम्पत्यर सात्मकत्वेन तद्धर्मसहितत्वम्। तत्र मर्यादया फलदानाद्भगवन्मार्गीयगुरुणेव

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

दृक्तटवती न स्यादिति तर्का एतैर्बोधिताः। तावता रतिवर्द्धकत्वमनुमानेन दृढीकृतम्। किञ्चैतेनाऽऽधिदैविक्या भगवदतारोत्तरमवतरणं तादृग्लीलादावेव च तदाविर्भाव इत्यपि ज्ञापितम्। तेन ''मधोनि वर्पत्यसकृद्यमानुजे'' त्यत्र व्याख्यातदोषगुणयोर्न विरोधः। नमत कृष्णतुर्यप्रियामिति न व्याख्यातम्। नमनतात्पर्यस्त पूर्वमुक्तत्वेनोपदेशमात्रस्य स्फुटत्वात्। ''कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजल'' इत्यत्र कालिन्दीयमुनयोर्भेदस्य श्रीभागवते मूल एव स्फुटत्वेन तयोराधिदैविकाधिभौतिकभावस्य तत्सुबोधिन्यां सोपपत्तिकं निरस्तत्वेन च श्रीरुक्मिण्यादित्रयसापेक्षस्य तुरीयत्वस्याऽशक्यवचनतया सात्त्विकादित्रयसापेक्षस्य गुणातीतात्मकस्य तस्य स्फुटत्वात्। न च महिपीष्वनन्तर्भावे प्रियात्वस्यैवाऽसिद्धया तुर्यप्रियात्वस्य सुतरामसिद्धिरिति शङ्कयम्, यमुनामाहात्म्ये यमुनाभिषेकाध्याये पूर्वं भगवत्कृतमाश्लेषमुक्त्वा ''यमुनाऽप्यच्युतेनैवं सुसंस्कृत्याऽथ शिक्षिता। शङ्ख ाम्बुना

---

१ तद्वैतामिति च. तद्वैनानिति ख.

अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते।

भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुं तथा विशेषणैराहुतनन्तेति । प्रभौ सप्तम्घन्तानि विशेषणानि । तत्प्रियायां सम्बुद्धिरुपाणि । घनाघनशबकदो

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

तद्विधिनिरूपणेन। अतस्तदुक्त्यनुपपत्तिरिति चेत्। अत्र वदाम:। व्रजे हि भगवद्भोग्या: स्वामिन्यश्चतुर्विधा:। तत्रैका मुख्या भगवत: स्वामिनी सर्वविलक्षणा। अस्यां चाऽनन्यपूर्वान्यपूर्वोभयरूपत्वाभाव:। भगवतो रसात्मकस्य श्रुतिसिद्धस्याऽऽलम्बनविभावत्वेन तथात्वसम्पादकत्वात्। श्रुतिरूपा गोपगृहेषु स्थिता: सर्वात्मभाववत्य: प्रौढा एका:। तथा कुमारिका व्रजस्था अनन्यपूर्वा विवाहाभावेऽपि वसनादानेन स्वकीया: कृताश्चाऽपरा:। चतुर्थी श्रीयमुना। तस्यामपि क्रीडाव्याजेन सर्वाङ्गसम्बन्धसम्पादनेन स्वातन्त्र्येण तया सह क्रीडेति सा चतुर्थी। अत एवैतदभिप्रायेण तत्र तुर्यप्रियात्वोक्तिर्न तु तुर्यभार्यात्वोक्तिरिति नाऽनुपपत्ति: काचित्।।३।।

भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुमिति। भगवान् हि षड्गुणै: स्वरूपेण च सप्तविध:। तत्र गुणा: षड् ऐश्वर्यादय:। तेऽपि पुष्टिमार्गीयमर्यादामार्गीयतद्भेदेन विविधा:। तत्र पुष्टिमार्गीया: षट् फलप्रकरणे वेणुगीते च –''धन्यास्त्वि'ति श्लोक

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

ऽभिषिच्यैनां त्वत्तो नाऽन्याऽस्ति पावनी'' त्यादिकं चोक्त्वा ''अपि ब्रह्महण: पाप मपनेष्यसि सेविता, सप्तरात्रात्तु सान्निध्यं न ते त्यक्ष्यामि कर्हिचिदि''ति भगवता सर्वदा स्वसान्निध्यरूपवरदानान्तैरर्थै: प्रियात्वस्य सिद्धावुक्तरीत्या तुर्यप्रियात्वस्य सुखेनैव सिद्धिरिति। साम्प्रदायिकास्तु केचन मुख्यस्वामिन्यग्निकुमारश्रुतिरूपसापे क्षत्वेनाऽऽहु:। केचन मुख्यतत्तत्सङ्गमुख्यसापेक्षत्वेनाऽऽहु:। ताभ्यामपि मदु क्तिर्न विरुध्यते। अत्र भुवं समधिगतामिति विशेषणेन कर्मभूमिगतपापात्मक प्रतिबन्धनिवृत्तिसूचनाच्छेषाभ्यां विशेषणाभ्यां सखीभिराभरणैश्च भूषितत्वबोधनेन भगवत्सान्निध्यसूचनाद्विवक्षितशुद्धिसम्पादकत्वरूपं तृतीयमैश्वर्यं दृढीकृतम्।।३।।

अत:परं तुर्यत्वबोधितगुणातीतत्वसमर्थनाय भुवनपावनीत्वनिष्कर्षाय च तुरीय: श्लोक इति ज्ञापयन्तस्तमवतारयन्ति भगवदित्यादि। साम्प्रदायिकोक्ततुर्यत्वपक्षस्त्वष्टमे स्फुटीभविष्यति। तथा विशेषणैरिति। विशेष्यसहितै: षड्भिस्तैरित्यर्थ:। समानधर्म

---

१ तद्विधिनिरूपणेन फलदातृत्वमिति च. २ वसनदानेनेति क.ग.घ.ङ.च.

घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे।

निपातरुपो घनसमुदायं वदति । श्यामे । तादृशीति वा । ध्रुवादेस्तत्तीर

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

षट्केन निरूपिता: प्रभुचरणै:। तेऽत्राऽपि तत्समानसङ्ख्याकैर्विशेषणै: श्रीयमुनायां निरूप्यन्ते। तथाहि। सप्तम्यन्तप्रभुविशेषणपक्षे अनन्ता असङ्ख्याता नित्याश्च ये गुणास्तैर्भूषिते अलङ्कृते प्रभावित्यर्थ:। सम्बुद्ध्यन्ततया श्रीयमुनापक्षे अनन्तस्य नित्यस्य रासोत्सवादिषु बहुरूपस्य वा भगवतो ये गुणा भक्तकार्यसाधकत्वादयस्तैर्भूषिते इत्यर्थ:। एतेन सर्वसद्गुणसततसाहित्यात "गुणा: सर्वत्र पूजन्यत" इति वाक्यात्। "पूज्यो हि भगवान् तद्गुणाश्चे" त्याचार्यचरणवचनाच्च गुणानां पूज्यतावच्छेकधर्मरूपत्वाद् "ईश्वर: पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदे'ति श्लोकनिरूपितमैश्वर्यं निरूपितमिति भाव:। शिवविरञ्चिदेवस्तुते इति विशेषणेन पक्षद्वयेऽपि "वीर्यं देवेष्वि" त्यत्र निरूपितं वीर्यं निरूपितमित्यर्थ:। घनाघननिभे इति विशेषेन पक्षद्वयेऽपि स्वरूपसौन्दर्यं सर्वविस्मारकं विश्वजीवनत्वादिकं च निरूपितमिति "यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणादि" त्यत्रोक्तं यशो निरूपितमित्यर्थ:। ध्रुवपराशराभीष्टदे इति विशेषणेन स्वसेवकानामप्यैश्वर्यज्ञानरूपाभीष्टप्रदानेन तेषामपि तद्योगात् "श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदी" त्यत्रोक्ता श्रीर्निरूपितेत्यर्थ:।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

वत्त्वमत्र न समानसङ्ख्यामात्र बोधितमपि तु पदार्थसाम्येनाऽपी त्याशयेनाऽऽहु: प्रभा वित्यादि। तथा च विभक्तिरेव विपरीणीयते न त्वर्थो भेद्यत इत्यर्थ:। निपातरूप इति, अव्युत्पन्न इत्यर्थ:। यद्यपि कृदन्ते "हन्तेर्घत्वञ्चे" त्यनेन हन्ते: कर्तरि घनाघनशब्दो व्युत्पादितस्तथापि मेघे वाच्ये यौगिकोऽर्थो न विवक्षित इति तथोक्तम्। तादृशि इति वेति। भगवति श्यामवर्णस्य "श्यामवर्णस्य "श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्य" इति श्रुतिसिद्धत्वात्तदर्थनिश्चायके "अथवा शून्यवद्गाढमि'ति तत्त्वदीपश्लोके स्वरूपाभिन्नत्वेनोपपादनाद्भगवत्पक्षे घनाघननिभपदस्य विशेष्यत्वे स्फुटेऽपि तत्प्रियापक्षे तन्न स्फुटमिति तत्रापि "ततश्च कृष्णोपवने" "कृष्णाया हस्ततरले" त्यादि श्रीभागवतवाक्ये कृष्णापदस्य नामत्वेन बोधनादस्य तत्स्मारकत्वेन तथात्वं बोध्यमित्या

विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते।

एव प्रभुप्राकट्यात्तथा । विशुद्धा मथुरा तटे यस्याः । सा निकटे वा यस्य। निरवधिकृपायुक्तो हरिस्तस्मिन् । अन्या नदी लौकिकं जलधिं सङ्गता

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

विशुद्धमथुरातटे इति। अत्राऽयमर्थः। मथुरा हि विशुद्धा, सर्वदोषराहित्यात्। न हि तत्र भूम्यादिदोषाः सम्भवन्ति। तत्त्वान्युत्पाद्य ''तस्सृष्ट्वातदेवाऽनुप्राविशदि''ति श्रुतेः कारणतया तेषु प्रविष्टस्य भगवतो भूमितत्त्वैकदेशरूपमथुराया नित्यस्थितिस्थानत्वात्। अत एव जीवानां ''काश्यादिपुर्यो यदि सन्ती'ति वाक्यात्सा सर्वैःप्रकारैर्मोक्षदात्री। तादृश्या अपि श्रीयमुनातटे सत्त्वेन लीलास्थानतया यत्र भगवांस्तल्लीलाविशिष्टः प्रकटस्तत्र सेत्येवं निरन्तरप्रभुसान्निध्येन भक्तिदायकत्वात् ''ज्ञानोत्कर्पस्तदैव स्यात्स्वभावविजयो यदी'' त्यत्रोक्तं ज्ञानं निरूपितम्। सकलगोपगोपीवृत इति। परोक्षेऽपि भक्तानां भगवत्सम्बन्धमाकाङ्क्षमाणानां तत्रैव भगवत्सम्बन्धोऽनुभूत इति तदाशया सततं तामावृत्य स्थितिरिति तत्सङ्गः सर्वदा। स च निरूपधिभगवत्सम्बन्धिभावेनैव भवतीति सर्वदा भगवत्प्रीत्या भगवतोऽपि भक्तसम्बन्धसम्पादकतया व्रजभक्तानां च मानादिदोषनिवारकतया तापहारकत्वेन च ''हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात्। उत्कर्ष

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

शयेनोक्तं विशुद्धेत्यादि। अत्र पद्मनाभादिपद इव गड्वादित्वात्समासः। प्रभुपक्षे तटपदं लाक्षणिकमित्याशयेनाऽऽहुर्निकटे वा यस्येति। नैकट्यं च ''मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिरि'' ति वाक्योक्तान्नित्यसन्निधानात्। निरवधीति, जलधिपदविवरणम्। ''न वै कामस्याऽन्तोऽस्ति न समुद्रस्ये'ति श्रुतेः। अनयाफक्किकया प्रभुपक्षे कृपाजलधिरिव कृपाजलधि तेन संश्रितस्तस्मिन्नित्युपमितसमासोत्तरं ''कर्त्तृकरणे कृता बहुलमि'ति गतिपूर्वकसमासो बोधितः। तत्प्रियापक्षे समासबोधनपूर्वकमस्य तात्पर्य्यमाहुरन्येत्यादि। इदमपि ''विशत्योघेन साऽऽदित्यमि'ति पूर्ववाक्य एव सिद्धम्। इति भावः सूचित इति। एतेन पूर्वश्लोकोक्तं भुवनपावनीत्वमेतावत्पर्यन्तं न तु पापनिवृत्तिमात्रेण चरितार्थमिति बोधितम्। एवं च हे षड्विशेषणविशिष्टे घनाघननिभे तादृशे सदा घनाघननिभे मम मनस्सुखं भावय उत्पादयेति मूलान्वयः। ''धुन्धुम्तस्याऽभवत्सुत'' इत्यादौ भुव उत्पत्त्यर्थस्य प्रसिद्धत्वात्। यद्वा। सुखं यथा स्यात्तथा मम मनो भावय प्रापयेत्यर्थः।

---

१ स च निरुपधिभावेनैवेति क.घ.अ. सर्वानिरूपमभावैनेवेत्यादि ङ.

कृपाजलधिसंश्रिते मम मनस्सुखं भावय।।४।।

भवति। इयं तु तादृशं श्रीव्रजेशं संश्रिता। एतेन त्वत्सङ्गतो भगवत्सङ्गतो भवतीति

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

श्चाऽपि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी'' त्यत्रोक्तं वैराग्यं निरूपितमित्यर्थ:। एवं षड्भिर्विशेषणै: षड् धर्मान्निरूप्य धर्मिस्वरूपं निरूपयन्ति कृपाजलधिसंश्रित इति। प्रभुविशेषणपक्षे निरवधिकृपायुक्तत्वेन स्वरूपमेवाऽभिहितं न धर्म:। करुणायास्तु नित्याविर्भूतधर्मत्वेन स्वरूपमध्यपातात्। अन्ये धर्मा नित्या अपि लीलोपयोगिनस्तत्तल्लीलायां प्रकटीक्रियन्ते नाऽन्यदा। करुणा तु सर्वदाऽऽविर्भूतैव स्वरूप इति सदा तद्युक्तत्वात्स्वरूपमेव सेति भाव:। श्रीयमुनापक्षे कृपाजलधिरपारकरुणो भगवांस्तं सम्यगविच्छेदेन श्रितेति मुख्यस्वामिनीवदर्धनारीनरवद्वा तत्स्वरूपमेवोक्तमिति भाव:। मम मनस्सुखं भावयेति। पूर्वोक्तधर्मवति हरौ मम मनस्सुखं भावेनाऽनुभूयमानानन्दस्तं भावय विचारय, कथं स भविष्यतीति। तद्विषयिणीं चिन्तां कुर्वित्यर्थ:। अनेन त्वच्चिन्तयैवाऽयमानन्द: प्राप्यो नाऽन्यसाधनैरिति भावो निरूपित:। सम्बुद्धिपक्षे मम मनसि भगवत्स्वरूपानुभवजन्यं यत्सुखं तत् त्वं भावयस्वमनस्यानयेत्यर्थ:। अनेन त्वच्चेतसि समागतावेव तत्सुखं सर्वदाऽनुभवविषयो

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

''भू व्याप्तौ''। क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वाभावान्नाऽऽत्मनेपदम्। मनस: सुखं स्वामीष्टरीतिकं भगवत्प्राप्त्येति तथा तां सम्पाद्य तदुत्पादयेति। आदित आप्राप्ति यथा सुखं भवति तथा अनायासेन मन: प्रापयेति या प्रार्थना। अत्राऽऽद्येन विशेषणेन गुणेषु सङ्ख्याकालापरिच्छेदबोधनादतिसाम र्थ्यरूपमैश्वर्यं बोधितम्। द्वितीयेन ''सवनशस्तदुपधार्य सुरेशा: शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगा'' इत्याद्युक्तदेवजेतृत्वरूपं वीर्यम्। तृतीयं तु विशेष्यमेव। तुरीयेण दातृत्वाद्यश:। पञ्चमेन ज्ञानम्। स्वसन्निधानादेव ज्ञानकार्यस्य विशुद्धत्वस्य मथुरायामाविर्भावात्। षष्ठेन श्री:। ''चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्यैकपदं वपुर्दधदि'ति तदावरणेनैव तत्प्रकाशात्। सकलपदेनाऽनीर्ष्याद्योतनाद्विवक्षितमपि गुणातीतत्वं स्फोरितम्। सप्तमेन वैराग्यम्। विरक्त एव हि कृपालुर्भवति, न तु रक्त:, रागस्य गर्द्धात्मकत्वात्। ''नाऽहमा

---

१ करुणाया: स्वनित्याविर्भूतधर्मत्वेनेत्यादि: ङ.

यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका।

अथ भगवदीयानामप्युत्कर्षाधायिका या तदुत्कर्षं को वक्तुं शक्त इति भावेनाऽऽहुर्ययेति । चरणपद्मजा गङ्गा । तेन भक्तिमार्गीया ।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

भवति। भगवताऽष्टविधैश्वर्यस्य त्वयि निक्षिप्तत्वात् स्वयं त्वदधीनः सर्वदाऽनीश्वर इवेति त्वद्विचारेणैव तद्भवतीत्यभिप्रायः सूचितः। एतेनेत्यादिना तव सर्वदा तद्रवीभूतरसात्मकत्वेन लीलाविशिष्टप्रभुसङ्गतत्वाद्येन केनाऽपि सम्बन्धेन त्वत्सङ्गतौ तादृक्प्रभुसङ्गतिरेव जातेत्याशयोऽत्र बोध्यः।।४।।

अथेत्यर्थान्तरोपक्रमे। पूर्वं चतुर्भिः श्लोकैरुत्कर्षवर्णनेन स्तुतिः कृता। अतः परमुत्कर्षवर्णनस्याऽशक्यत्वनिरूपणेन सा निरूप्यत इत्यर्थः। भगवदीयानामपीति, भगवता भगवदीयत्वरूपपरमोत्कर्षं प्रापितानामपीत्यर्थः। चरणपद्मजेति, चरणजेत्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि पद्मपदोपादानस्याऽयमाशयः। यथा पद्मजो ब्रह्माभगवतः पपञ्चे क्रीडार्थं भगवदाज्ञां च प्राप्य प्रपञ्चं सृष्टवान् स्वयं निरपेक्षस्तथेयमपि स्वगतभगवच्चरणरेणुभिः सेवौपयिकदेहसम्पादनेन भगवतो भक्तिमार्गप्रकटनेच्छामगवत्य स्वयमनपेक्षैव भगवत्क्रीडार्थं भगवदीयजनान् सृष्टवतीति। अत्र ब्रह्मवदाज्ञाऽभावोऽस्या भगवति साक्षात्सम्बन्धत्वेन[1] हार्दवित्तया। न हि हार्दविदो लोकेऽप्याज्ञाप्यन्ते, अतिचतुरत्वादिति भावः। तेनेति, चरणपद्मजात्वेनेत्यर्थः। चरणं हि निर्दोषपूर्णगुणं भक्तिरूपं च तज्जातत्वेना स्यामपि तद्गुणसङ्क्रमः। तथाचाऽन्येषामपि[2] सेविनां तथा करणमुचितम्। "कारणगुणा हि कार्यगुणानामारम्भका"

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

त्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विने'ति भक्तान् विना स्वस्मिन्नपि वैराग्यबोधनाच्च। तत्संश्रितत्वेन श्रीयमुनाया अपि तथात्वाच्च। अत्र भगवत्समानधर्मवत्त्वाज्जीवस्याऽनायासेन भगवत्सम्बन्धसम्पादकत्वं तुरीयमैश्वर्यं स्फुटमेव। एवं चतुर्भिः श्लोकैः स्वरूपं गुणाश्चोक्ताः।।४।।

अतः परं पूर्वोक्तस्य सर्वस्याऽसत्समारोपणत्ववारणाय गुणानामानन्त्याद्विशेषो वागविषय इति तत्सत्ता दिङ्मात्रेणोच्यत इति बोधयितुमग्रिमः श्लोक इत्याशयेन तमवतारयन्त्यथेत्यादि। अत एव प्रक्रमान्तरबोधकपदोक्तिः।

---

१ सम्बन्धत्वेनेति क.ख.ग.घ.च. २ तथाऽन्येषामिति ख.

समागमनतो भवत्सकलसिद्धिदा सेवताम्।

निर्दोषपूर्णगुणाऽपि यया त्वया सह समागमनतो मिलनतो हरेस्तथा अभवत्।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

इति न्यायादिति भाव:। यया त्वयेति, त्वया पुष्टिमार्गीयया सर्वाङ्गसम्बन्धिन्या मिलनतो मुररिपोर्भक्तप्रतिबन्धनिवर्त्तकस्याऽत एव तद्दु:खहर्त्तु: प्रियम्भावुका। यथा श्रीयमुना साक्षात्सेवोपयोगिदेहसम्पादनेन सेवकसृष्टिकरणात्तत्कृतसेवया प्रियम्भावुका तथा गङ्गा श्रीयमुनासङ्गानन्तरं तद्गतस्मरश्रमजलाणुसम्बन्धे साक्षात्सेवो

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

मिलनत इति। सञ्ज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद्गुणाभाव:। तथाऽभवदिति। प्रियम्भावुका अभवत्। ‘‘भुव: खिष्णुच् खुकञावि’’ त्यनेनाऽऽढ्यादिभ्य: परस्य भूधातोश्च्व्यर्थे खुकञि प्रियम्भावुकशब्दसिद्धि:। तथाचाऽप्रिया प्रिया सम्पन्नेत्यर्थ:। अप्रियत्वं चरणक्षालनजलत्वाद्भूतभौतिकत्वाभ्यां च। तेनेत्याद्युक्तगुणवत्त्वं तु चरणस्यैव माहात्म्यमतो न चोद्यावसर:। सेवतामित्यनुदात्तेत्वलक्षणस्याऽऽत्मनेपदस्याऽनित्यत्वेन शतृप्रत्यय:। अत एव ‘‘त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तराया’’ इत्याद्यार्षप्रयोग:। यद्वा। क्विबन्तो नामधातुप्रयोग:। सेवेवाऽऽचरताम्। सेवा यथा प्रसादिका तथा स्तोत्रपाठादिना प्रसादयतामित्यर्थ:। ननु पूर्वोर्द्धोक्तेऽर्थे किं मानमित्याकाङ्क्षायां तद्वदन्त एवोत्तरार्द्धं विवृण्वन्ति पूर्वमित्यादि। अन्यसङ्गतिजनितमिति। कुटिलाजलावरणजलशिवजटादिसङ्गतिजनितम्। वामनपुराणे उमातो ज्येष्ठा हिमवत्सुता ब्रह्मशापेन नदी भूत्वा सत्यलोके प्रवहन्ती आर्षे रामायणे गङ्गापदेन निर्दिष्टा। पञ्चमस्कन्धे ‘‘साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपदाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणाऽन्त: प्रविष्टाया बाह्यजलधारे’’ त्यादिनैका गङ्गोक्ता। पुराणान्तरे गोदामाहात्म्ये विवाहसप्तपदीसामयिकपार्वतीदर्शनजातरेत:पातलज्जया बहिर्निर्गतस्य ब्रह्मण: पापापनुत्तये शिवेन पृथिवीसारत: कमण्डलुं निर्माय तत्र सकलजलसारमादाय तस्मै दत्तं तत्त्रिविक्रमचरणक्षालनेन गङ्गात्वमापन्नं भगीरथगौतमाभ्यां शिवजटाजूटाद्धाराभेदेनाऽऽनीतम्। एतदेव ‘‘या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रपादाब्जरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री’’ति प्रथमस्कन्ध उक्तम्।

१.सेवकसृष्टिकर्तृकत्वादिति ग.घ. २.तत्कृतसेवायामिति च.अ.

तया सदृशतामियात्कमलजा सपत्नीव यद्धरि–

सेवतां च तथा । पूर्वं गङ्गाया: अन्यसङ्गतिजनितम् उत्कर्षम् उक्त्वा [1]भगवत्सङ्गतिजनित: उत्कर्ष: पठित: ''सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी'' त्यादिरूप:। एतादृश्या त्वया सह सदृशतां किं कापि इयाद् इति

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

पयोगिदेहादिसम्पादनपूर्वकं सेवकसृष्टिकरणात्तथा जाता। सेवतां भवन्मिलितगङ्गासेवकानां च पूर्वोक्तसकलसिद्धिदा जातेत्यर्थ:। अयमुत्कर्ष: स्वानुभवेनोक्त:। परं नाऽत्र चित्रं किञ्चित् यो हि यदाविष्ट: स तदा तत्कार्यं करोति। भगवदाविष्टभक्त इव। अत एव ''कस्याश्चित्पूतनायन्त्या'' इत्यादिवाक्यानीति नाऽनुपपत्ति:। पूर्वमिति, यद्यपि पूर्वमाचार्यवर्यप्राकट्यात्पूर्वं पुराणादिष्वपि सरस्वतीसङ्गतिजनितमुत्कर्षमभिधाय भवतीसङ्गतिज उत्कर्ष: पठित:। परन्तु ''सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी'' त्यादिरूपो न तु पूर्वोक्तरूप:। श्रीयमुनाया निजाचार्यप्राकट्यात्पूर्वमेवंविधस्वरूपाज्ञानात्तदनिरूपणात्। अतोऽयमेवोत्कर्ष एतसङ्गत्यनन्तरं भावी मन्तव्य इति भाव:। एतादृश्येति, स्वसम्बन्धेन स्वसमानगुणसम्पादिकयेत्यर्थ:।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

तिसृणामेकीभावेन पातेऽपि ''विष्णो: पदाच्छिशुमाराद्ध्रुवाच्च सोमात्सूर्योन्मेरुरूपाच्च विष्णो:। समागता शिवमूर्ध्नो हिमाद्रिमि''ति महाभारतेऽवतरणक्रम उक्त:। एवमग्रे तत्तत्क्षेत्रसम्बन्धे तत्तत्पुराणेषु तत्तत्कृत उत्कशर्षश्चेति तथा। आदिपदेन ''सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राऽऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तन्वां विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्त'' इति श्रुतिरन्यच्च सङ्गृहीतम्। तेन श्रीयमुनासङ्गमात्सेवकसकलसिद्धिदातृत्वं स्पष्टमेवेति बोधितम्। भगवत्प्रियम्भावुकत्वं तु समागम एव माहात्म्याधिक्यबोधनाद्भगवत्प्रियत्व एव च तथाभावात्। अन्यथा चर्मण्वत्यादिनद्यन्तरस्याऽपि तथात्वापत्ते:। अतस्तदेतैरेव वाक्यै: सिद्ध्यतीति तत्र विशेषत: प्रमाणान्तरं नोपन्यस्तम्। यद्वा। ''आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि'' त्यधिकारस्थितेन 'लषपते'ति सूत्रेण भुव उकञ्। तथा च

---

१ पूर्वकसेवाकारणादिति ग.घ. २ पूर्वकसेवाकरणादिति क. पूर्वकं सेवाकरणादिति ङ. पूर्वक्तं तत्सेवाकरणादिति ख.च. पूर्वकं सेवाकारणादिति मुद्रितग्रन्थे स्वीकृत:। अ ग्रन्थे उपनिर्दिष्टोन्यर्थ: पाठ: वर्तते सोऽस्माभि: स्वीकृत: ३ भवत्सङ्गतिज इति च. भगवत्सङ्गतिज इति ग.

प्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम्।।५।।

काकूक्तिः। यदि इयात् कमलजा इयात्। तत्र हेतुमाहुर्यद्यस्मात्सा भगवत्पत्नीत्वात्सपत्नी भवति। [1]तत्रापि भवती प्रियेति-इवेति। भक्तानुगुणत्वमाहुर्हरिप्रियाणां कलिं (दोषं) द्यति खण्डयति।।५।।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

भगवत्पत्नीत्वादिति, पत्नीत्वादेव सपत्नीत्वं न तु पुष्टिमार्गीयलीलासम्बन्धित्वभक्तानुगुणत्वादिगुणैरित्यर्थः। तत्राऽपीति, पत्नीत्वेऽपीत्यर्थः। भक्तानुगुणत्वमिति, दोषनिवर्त्तकत्वेनेत्यर्थः। गुणस्तु हरिप्रियपदेनैव सिद्ध इति भावः। मनसि मे सदा स्थीयतामिति मूले। मनसो भावाधिष्ठानत्वेन तत्र पूर्वोक्तधर्मवत्याः सततस्थितौ भावस्याऽपि निर्दोषपूर्णगुणत्वं सेत्स्यतीति भावः।।५।।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

मुररिपोः प्रियं यथा स्यात्तथा भावुका भवनसाधुकारिणी। भगवत्सेवायोग्यशरीरोत्पत्तिसाधिकेत्यर्थः। कमलजेति। लक्ष्म्याः कमलजात्वं विष्णुपुराणे "पुनश्च पद्मादुद्भूता आदित्योऽभूद्यदा हरिरि"ति लक्ष्म्यवतारकथने। "नमस्ते सर्वभूतानां जननीमब्जसम्भवामि" तीन्द्रस्तुतौ च स्फुटम्। अतिप्रियत्वे प्रमाणं कार्यलिङ्गकानुमानमेवेति मूलाशयमुद्घाटयन्ति भक्तेत्यादि, कलिं द्यतीति। अत्र "तत्पुरुषे कृति बहुलमि"ति बहुलग्रहणाद्द्वितीयाया अलुक्। एतेन लक्ष्म्यंशास्तदाविष्टाश्च सापत्न्येनेर्ष्यावत्यो भवन्ति, भवती तु तासां तदपाकरोतीति गुणातीतत्वं प्रियत्वबीजभूतं कार्यद्वारा निश्चायितम्। कलिन्दयेति भावप्रधानो निर्देशः। तथाचाऽनेन रूपेण मे मनसि सदा स्थीयतामिति तदावेशेन स्वस्य भगवत्प्रियत्वफलिका द्वितीया प्रार्थना। पूर्वश्लोकोक्तसम्बुद्धिभिश्चारितार्थ्यान्न पुनस्तदुक्तिः। अत्र भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वरूपं पञ्चममैश्वर्यं स्फुटमेव।।५।।

---

१ तत्रापि प्रियेति वेतीति ख. तत्रापि भगवती प्रियेतीवेतीति ग. ईष्टस्त्वेम्.

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं।
न जातु यमयातना भवति ते पय:पानत:।।

एतादृश्यां त्वयि नमनातिरिक्तं न वक्तुं शक्यमित्याशयेनाऽऽहुर्नमोऽस्त्विति । त्वयि नमनमपि दुर्लभमत: प्राथ्यर्ते अस्त्विति । अद्‌भुतत्वमेवाऽग्रे उपपादितम्।।६।।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

एतादृश्यामिति। भक्तोत्कर्षाधायिकायां भक्तानुगुणायां चेत्यर्थ:। एतेनैतादृगुपकर्त्र्यां प्रत्युपकृत्यसम्भवेन यथाकथञ्चिन्नमनमेव माहात्म्यज्ञानात्सम्भवति नाऽन्यदियुक्तं भवति। नमनमपीति। भगवति नमनं सम्भवत्यपि। भगवन्माहात्म्यस्य शास्त्रसिद्धत्वात्। भवत्यां तु लीलासृष्टिप्रवेशे तादृभावसम्पत्तौ तत एव तथाविधभावावगतौ तद्भवतीति दुर्लभमेवेत्यर्थ:। अद्भुतत्वमेवेति। मूले अतिशब्दादद्भुतत्वमपि तथाविधं वाच्यम्। तत्राऽयं भाव:। भगवानद्भुतकर्मा, ''कृष्णा

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

एवं निरस्तसाम्यत्वबोधनेनाऽधिकवर्णनाशक्तिं समर्थयित्वा 'नमामी' त्यादौ नमनस्याऽग्रे 'नमते' त्युपदेशे कैमुतिकेन हेतुतोक्त्याऽपि चारितार्थ्यान्न पूर्वोक्त आचार्याशय इति शङ्कां वारयितुं भगवत्कृपाङ्कुरं विना श्रीयमुनानमनमपि कोऽपि कर्त्तुं न शक्त: कुतस्तरां नमनातिरिक्तमित्याशयमग्रिमे स्वयमेव प्रकाशयन्तीति नाऽस्मदुक्तं विरुद्धमित्याशये नाऽग्रिममवतारयन्त्ये तादृश्यामित्यादि। एतादृश्यामिति वैषयिकाधिकरणसप्तमी। दुर्लभमिति। भगवत्कृपाङ्कुरं विना तत्र तादृक्श्रद्धाया एवाऽनुदयात्तथेत्यर्थ:। ननु प्रार्थनाव्यतिरिक्तार्थान्तरेऽपि तथा प्रयोगान्नेदं गमकमित्यत आहुरद्भुतत्वमेवेत्यादि। अन्यथा चरित्रस्याऽद्भुतत्वं नोपपादयेयु:। इदमपि तत्रैवोक्तम्। ''गण्डूषमात्रमप्यम्बु पीत्वा भवति सोमपा:। सप्तकृत्वश्च सप्तैव सोमसंस्था: समाप्नुयादि''ति। ''विनिग्राह्यास्त्वया भ्रातर्ये नरा: पापकारिण:। तानहं तारयिष्यामि प्राप्स्यामि च सुरालयमि''ति। तथा च यस्या ईदृशं चरित्रं तस्या उत्कर्षज्ञानं न भगवत्कृपाङ्कुरं विना, तदभावे तदभावान्न नमनमपीत्यतिदुर्लभत्वात्तदर्थमपि कृपाऽपेक्षितेति प्रार्थनैऽवार्थ इति भाव:। मूले पय:पाने

---

१ अत्युपसर्गादिति ख.ग.घ. २ अद्भुतमपीति क.ग.घ.

यमोऽपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति दुष्टानपि।

प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिका:।।६।।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

याऽद्भुतकर्मण'' इत्याचार्यैर्निरूपितत्वात्। तच्च ''असाधनं साधनं करोति'' इत्यादिरूपम्। यथाऽसाधनं कामादि प्रमेयबलप्राकट्येन साधनं भगवद्भावनाहेतुत्वेन। तत्र विषयत्वेन स्वप्रवेशात्। अत एव ''गोप्य: कामादि'' त्यादिवाक्यानि। उक्तं चाऽऽचार्यवर्यैः ''कामान्ता च कृति: स्फुटा। कामोद्भूते तथा प्रीतिरि'ति''। एवं सति भगवन्नसाधनमपि स्वरूपबलेन साधनं करोति। तथाविधस्वरूपप्रदर्शनेन तादृग्भावजननात्। अत्र तु भावनाभावेऽपि असाधनं पय:पानं पिपासाहेतुकं तथा फलसाधकं साधनीकरणाभावेऽपीत्यत्यद्भुतत्वमेतच्चरित्रस्येति भाव:। न हि पिपासया पानीयपाने काऽपि तद्भावना सम्भवति। अतस्तदसाधनमेव। ननु यमयातनाभावस्तु भगवन्नाम्नाऽपि भवतीतिको विशेष एतच्चरित्र इति चेत्तत्राऽऽहुर्जातु इति मूले। कदाचिन्नामापराधेषु सत्सु गुरुवैमुख्यदु:सङ्गवर्जनरूपाङ्गद्वयाभावे न फलत्यपि नाम, न तथा प्रकृते। न हि पिपासया पाने नामग्रहण इव किञ्चिदङ्गमपेक्ष्यम्। अतो महानेव विशेष इति भाव:। नन्वत्र कोपपत्ति: पय:पानेन यमयातनाभावे। लौकिकेन तेनाऽदृष्टाजननात्। नाऽपि दृष्टद्वारा, असम्भवात्। न हि पिपासाहेतुकपय:पानस्य

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

युष्मदनुरोधेन यातनाभावेऽपि स्वस्याऽधिकृतत्वादल्पदण्डं तु दास्यत्येवेत्यत आहुर्यमोऽपीत्यादि। उस्तर्के। इदमपि तत्रैव, ''यमुने कृपया पापानवश्यं तारयिष्यसि। मयि त्वया दया कार्या निर्दये निगृहीतरी''ति यमेनोक्तम्। ''एवमस्तु मदम्भोभि: स्नात्वा त्वामादरान्नरा:। दशभिश्च चतुर्भिश्च तर्पयिष्यन्ति नामभि:। तेन हिंसापरोऽपि त्वं घृतकल्पो भविष्यसि। निरातङ्का भविष्यन्ति भवतो येऽपि पापिन'' इति यमुनावाक्यैरेव सिद्धम्। उपपत्तिमात्रं परं तर्क्यत इत्यर्थ:। तथा गोपिका इति।

---

१ तत्कृतिरिति च. २ दर्शनेनेति क.ख.ग.घ. प्रदर्शने इति च. ३ पय:पानेन यमयातनाभावहेतुत्वं क्वचिदपि लोके सिद्धमित्याशङ्कयाऽऽहु: – यमोऽपीति ख. पय:पानेन यमयातनाभाव:। लौकिके पय:पाने कृते अदृष्टे अलौकिको यमयातनाभाव:। तस्याऽनुत्पत्ति:। नापि दृष्टद्वारा। असम्भवादित्यादि: च.

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

यमयातनाभावहेतुत्वं क्वचिदपि लोके सिद्धमित्याशङ्क्याऽऽहुर्यमोऽपीति मूले। श्रीयमुना हि यमभागिनी, सूर्यापत्यत्वात्। तत्राऽपि कनिष्ठा, यमोत्पत्त्यनन्तरं तद्दोषपरिहाराय रविणा पश्चादुत्पादितत्वात्। अतो यमसन्माननीया। कस्या: पय:पानेतत्सुतत्वम्। पय:शब्दस्य श्लिष्टार्थकत्वात्। वस्तुतोऽपि पय:पानेन तत् सुतत्वम्। पञ्च महाभूता तदपेक्षया जलस्यैव मुख्यत्वं, पयसैव देहोत्पत्ते:। भूतान्तरापेक्षया पयस एव विशेषतो देहोत्पादकत्वात्। ''पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्ती'ति श्रुते:। तादृशेषु दोषसत्त्वेऽपि भागिनेयत्वेनाऽतिमान्यत्वात्स्वत एव कथं यमस्तांस्तथा करोतीत्यर्थ:। एवं दोषनिवारकमद्भुतचरित्रमुक्त्वा फलसम्पादकमद्भुतचरित्रमाहु: प्रियो भवतीति मूले। भगवदङ्गीकृतानां भगवदुक्तसाधनैर्भगवति प्रीतिसिद्धिर्भगवच्छास्त्रसिद्धा, न तु भगवतो जीवेषु प्रीति:, तेषामविद्यादिदोषग्रस्तत्वात्। न हि निर्दोष: सदोषेषु रमते प्रीणाति च। तव पुष्टिमार्गीयाया: सेवनात्सर्वभावेन चेतसस्त्वदधीनत्वकरणात्त्वदीयत्वे सम्पन्ने स्वसम्बन्धिसम्बन्धाद्धरे: सर्वदु:खहर्त्तुस्तादृक्स्वभावस्य स सेवकस्तदीय: प्रियो भवतीत्पर्थ:। इदमपि तवाऽद्भुतचरित्रम्, शास्त्रासिद्धत्वात्, लोकेऽपीतरतोषहेतुकृतेरितरतोषासाधकत्वाच्च। ननु किं प्रमाणमत्र कुत्राऽप्येवं फलस्याऽदृष्टत्वादित्याशङ्कयदृष्टान्तमाहुर्यथा गोपिका इति मूले। यथा व्रतप्रसङ्गे फलप्रकरणीयगुणगानप्रसङ्गे च तव सेवनाद् गोपिका हरेस्ताथा जाता:। तथाऽन्योऽपि भगवत्सेवकस्तथा भवतीति भाव:। अथवा। यथा गोपिका इति दृष्टान्तेन न प्रीतिमात्रं किन्तु यथा ता: सर्वभावेन प्रीतिविषया भगवतस्तथाऽयमपि भवतीति भाव:।।६।।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

प्रियत्वे। उदाहरणम्। अन्यथा बहुषु भक्तेषु सत्स्वप्येकादशे तास्वेवैकतानत्वेन प्रियत्वं न वदेदतस्तथेत्यर्थ:। प्रियभवने दृष्टान्तश्चाऽयम्। सेवनस्य हेतोस्तुल्यत्वात्। तेन ब्रह्मत्वेन सेवने ''रसो य: परमाधार'' इति तथा सेवकस्य प्रियत्वं युक्तमेव। अत: प्रतिबन्धकनिवृत्तिरर्थादेव सिद्ध्यतीति भाव:। एतावदन्तं व्याख्यानं प्रभूणाम्। अग्रे तदाज्ञप्तश्रीगोकुलनाथानाम्। अत्राऽपि स्वसेवनाद्गोपिकावद्भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वरूपं षष्ठमैश्वर्यं स्पष्टम्।।६।।

---

१ स्वसेवकस्तदीय इति च. २ प्रतीतमात्रमिति च.

ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता।

न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये॥

श्रीगोकुलनाथचरणनाम् विवृत्तिः।

आवश्यकदैहिकधर्मेऽपि त्वत्सम्बन्धे मुक्त्यधिकभक्तिप्राप्तिर्यत्र, तत्र का शङ्का यमयातनाभाव इत्याहुर्ममाऽस्त्विति । तव सन्निधौ तनोर्नवत्वं लीलोपयोगिनूतनदेहसम्पत्तिरस्तु । एतेन पूर्वदेहनिवृत्तिः सूचिता । इदमपि त्वत्कृतमेव भवति न त्वन्यथेति ज्ञापनाय प्रार्थनमस्त्विति । एतावता

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

आवश्यकेति। देहस्य देहान्तरारम्भकत्वमावश्यको दैहिको धर्मः "प्रज्ञया शरीरं समारुह्ये" त्यादिश्रुतेः। किं बहुना। मुक्तावपि भगवच्छास्त्रे सेवोपयोगि वैकुण्ठादिषु देहान्तरम्। अत एवोक्तमाचर्यैः सेवाफलग्रन्थे– "सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्वि'ति"। तस्मिन्नपि त्वत्सम्बन्धे सान्निध्यसम्पादिते दैशिकेऽपि सम्बन्धे यत्र तथाविधभक्तिसिद्धिस्तत्र तत्र जातानां यमयातनाभावे का शङ्केति कैमुतिकन्यायो निरूप्य इत्यर्थः। तव सन्निधाविति। एतेन दुष्टसन्निधानकृतत्वत्तिरोभावाभावस्थल एव तथात्वमित्याशयो ज्ञेय इति। बोधितम्। पूर्वदेहनिवृत्तिरिति। घटस्य पाकेन मृत्त्वनिवृत्तिवन्निवृत्तिरत्र वाच्या। अन्यथा पूर्वतनोर्नवत्वमिति न व्याख्यातं स्यादिति भावः

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

तत्र च, एवमनेन स्वरूपसामर्थ्यं निश्चाययित्वा प्रियत्वोपयोगि यदभिप्रेतं तत्प्रार्थयितुमग्रिमः श्लोक इत्याशयेन तमवतारयन्त्यावश्यकेत्यादि, आवश्यक दैहिकधर्मपदेन तीरवसात्मकंसेवनं पानं चेत्युभयमपि सङ्गृह्यते। पूर्वत्र सेवनपानयोः फलस्योपपादितत्वेऽपि व्याख्यानाभावादत्राऽनुवादः । तथाच तीरवासात्मकत्वसेवन त्वञ्जलपानरूपानरूपावश्यकदैहिकधर्मेऽपित्वत्सम्बन्धे यत्र मुक्त्यधिकभक्तिप्राप्तिस्तत्र का आशङ्का यमयातनाभाव इत्याशयेन पूर्वं प्रार्थनमाहुरित्यर्थः। तव्द्याकुर्वन्ति तवेत्यादि। तव आधिदैविक्याः सन्निधौ भौतिकीमध्ये सन्निधाने तनोर्नवत्वं सिद्धिरूपलीलोपयोगिनूतनदेहसम्पत्तिरस्तु। अत्र तनुनवत्वं नैतच्छरीरेऽतिशयाधानमात्रपर्यवसायि, किन्तु पूर्वशरीरनिष्टत्तिपूर्वकाभीष्टदेहान्तरप्राप्तिपर्यन्तमित्याशयं स्फुटीकुर्वन्ति एतेने त्यादि। एतेन नवत्वस्य नूतनदेहसम्पत्तिपर्यन्तत्वकथनेन पूर्वशरीरनिवृत्तिः सूचिता,

१ शरीरमारुह्येति ख. २ दैहिकेऽपीति ग. युक्तन्तु यथानिवेशमिति न प्रस्मार्य्यम्। ३ परिपाके नामात्व निवृत्तिवत् इति पाठः अ.

अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्।

तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः।।७।।

शरीरपरिवर्त्तमात्रेणैव मुररिपौ रतिर्दुर्लभतमा न भवतीत्यर्थः। किन्तु तनुनवत्वेन सुलभैव । कदाचित्प्रतिबन्धके विद्यमानेऽपि यथा जलदोषरूपमुरस्य निवारकस्तथा त्वत्सम्बन्धात्सर्वदोषनिवारकत्वं मुररिपुपदेनोक्तम्। अतः कारणाद्यावदाधुनिकशरीरनिवृत्तिस्तावत्तव लालना स्तुतिरूपा अस्तु । साऽपि

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

दुर्लभतमा नेति। त्वत्सम्बन्धस्यैव दुर्लभत्वेन सा भगवति दुर्लभा तु भवत्येवेति तमप्प्रत्ययाशयो बोध्यः। प्रतिबन्धक इति। भक्त्युत्पत्तावित्यर्थः। त्वत्सम्बन्धादिति। यथा नरकासुरनिरुद्धकन्यानुग्रहाय तत्सम्बन्धाज्जलदोषरूपमुरस्य निवारकस्तथा त्वत्सम्बन्धात्त्वदीयसर्वसेवकदोषनिवारक इति भावः। एतेन त्वत्सम्बन्धिनां भगवद्रतिप्रतिबन्धनिरसनायाऽपि यत्नो न विधेय इत्युक्तम्। मुकुन्दप्रिय इति मूले। पदतात्पर्यं तु भगवान् मुकुन्दो मोक्षदाता गृह एव चतुर्विधपुरुषार्थं भावेन स्वयमाविर्भूयाऽनुभावयन् तादृशसमाजसख्यसम्पादनेन स्वतन्त्रभक्त्या भगवदीयत्वसम्पादकस्तादृशस्य प्रियात्वेन तद्धर्मवत्त्वात् भगवदीयत्वसम्पादकत्वमस्या इति स्वतन्त्रभक्तिदायिकात्वेन परमोत्कर्षो निरूपितो भवतीति तथा सम्बोधनमिति। अतः कारणादिति। यतो यथाकथञ्चित्त्वसम्बन्धे प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकभक्तिप्राप्तिसौलभ्यमतः कारणादित्यर्थः। यावदाधुनिकेति। नवीने

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

अर्थबलादेव बोधितेत्यर्थः। इदमिति। पूर्वोक्तमुभयम्। ननु किमिति द्वयं प्रार्थ्यते एतस्य शरीरस्यैव कुतो नवत्वं न प्रार्थ्यत इत्यत आहुरेतावतेत्यादि। शरीरस्य यः परिवर्त्तः पूर्वधर्मनिवृत्तिपूर्विका धर्मान्तरवत्ता, तन्मात्रेणैव मुररिपौ दोषनिवर्त्तके भगवति रतिर्दुर्लभतमा न भवति, तथापि लीला तु दुर्लभतमा भवत्येव। अतो न प्रार्थ्यत इत्यर्थः। तदेतत्स्फुटीकुर्वन्ति कदाचिदित्यादि उक्तमित्यन्तम्। श्रीहरिरायास्तु लीलोपयोगिदेहप्राप्तिं परमभक्तिप्राप्तिमात्रसाध्यां मन्वानाः पूर्वदेहनिवृत्तिं मृद्धटपाकदृष्टान्तेनैतद्देहेऽतिशयाधानमात्रपर्यवसितामङ्गीकुर्वन्ति। तदपि पूर्वकक्षाविश्रान्तमिति न विरोधः। मुकुन्दप्रिय इति तु न व्याख्यातम्। मोक्षदातृत्वस्य

---

१ दुर्लभा न भवत्येवेति ग. २ चतुर्विधपुरुषार्थभावेनेति ख. ३स्वन्त्रभक्तदायकत्वेनेति ख.च.

त्वत्कृपयैव नाऽन्यथेति प्रार्थ्यतेऽस्त्विति । गङ्गाया अपि फलसाधकत्वं त्वत्सम्बन्धादेवेत्यत आहु: सुरधुनी तव सङ्गमात् परं अत्यर्थं भूवि कीर्तिता स्तुतेत्यर्थ:, न तु कदापि त्वद्रहिताऽपीत्यर्थ:। ननु क्वचित्पुराणादौ केवलाया अपि स्तुतिर्दृश्यत इति स्तुतौ विशेषमाहु: पुष्टिस्थितैरिति। मर्यादामार्गीयै: केवलाऽपि स्तूयते त्वत्स्वरूपाज्ञानात्। पुष्टिमार्गीयास्तु त्वत्स्वरूपं जानन्तीति त्वत्सम्बन्धादेव स्तुवन्तीत्याहु: पुष्टिस्थितैरिति।।७।।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

अलौकिके तु शरीरान्तरे सम्पन्ने लीलारसानुभव एव त्वत्तीरे भवेदिति भाव:। लालना स्तुतिरूपेति। यथा जननी लालनसमये प्रेम्णा बालकं स्तौति। सा स्तुतिरपि लालनैव न तु गुणकीर्त्तनम्। लालनमध्यपातित्वात्। तथैषाऽपि स्तुतिर्लालनैवेति स्तुतिरूपेत्युक्तमित्यर्थ:। फलसाधकत्वमिति, पुष्टिमार्गीयफलसाधकत्वमित्यर्थ:। पुष्टिमार्गीयं फलं तु साक्षात्पुरुषोत्तमलीलासम्बन्धोऽलौकिकदेहसिद्ध्या, तत्सम्पादकत्वं तु गङ्गायास्त्वत्सम्बन्धादेव। अन्यथा ''स्रोतसामस्मि जाह्नवी'ति'' वाक्येन तस्या विभूतिरूपत्वेन निरूपणादेतत्फलसाधकत्वमुच्यमानं बाधितं स्यात्।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

स्वाभाविकत्वेऽपि भवदनुरोधेनाऽलौकिकं देहं दास्यतीत्याशयस्य प्रियापदादेव स्फुटं स्फुरणात्। प्रियत्वं तु तत्रैव ''विष्णुदयिते''ति नाम्नोक्तम्। अत:कारणादिति। यतो भवती प्रिया। तथाच तदवधि लालनारूपं तदनुकूलमिदं द्वितीयं प्रार्थितं देयमिति भाव:। ननु तनुनवत्वरूपं फलमन्यथा सिद्धं गङ्ग्याऽपि सम्भवादतस्तदर्थं तत्स्तुरिरेव कार्येत्याशङ्कायां तन्निरासाय श्लोकशेष इत्याशयेन तमवतारयन्ति गङ्गाया इत्यादि। इदमपि ''सितासिते'' इति मन्त्रोत्तरार्द्ध एव सिद्धम्। अस्याऽपि मन्त्रस्यकर्त्वेन ''गोप्यो गाव: ऋचस्तस्ये''ति श्रुत्यन्तरे तासां गोपीत्वेन पुष्टिस्थितत्वात्केवलगङ्गाया एव माहात्म्यस्य तत्राऽस्फुटत्वाच्च। अत्र पुष्टिस्थितपदेन तदुक्तिराधिदैविकसङ्ग्रहाय। व्रजस्थकृतस्य केवलगङ्गाकीर्त्तनस्य श्रीभागवते अदर्शनादिति। आहुरिति। स्वपूर्वोक्तेऽर्थेऽभियुक्तसम्मतिमाहुरित्यर्थ:। व्याख्यानं तूत्तानार्थम्। इदं चाऽर्थादेव सिद्धम्। पुष्टिमार्गीयाणां भजनान्दाभिलाषुकत्वेन तदुयोगिन एव स्तुत्यत्वात्। लोकादपि तथा निश्चयात्। योजनातु-सुरधुनी भुवि कीर्तिता, परं तवैव

---

१ तत्तीरे इति क.ग.घ.ङ.च.

स्तुतिं तव करोति कः कमलजासपत्नि प्रिये।

यत्र त्वत्सम्बन्धात्सर्ववन्द्यगङ्गास्तुतिस्तत्र त्वत्स्तुतौको वा समर्थ इत्याहुः स्तुतिं तवेति। अशक्यस्तुतित्वे हेतुमाहुः कमलजासपत्नि इति।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

अत एव पुष्टिस्थितैरित्युक्तम्, अन्येषामेतन्माहात्म्यानवगतेः। पद्यपदलापनिका तु, पुष्टिस्थितैः निःसाधनानुग्रहमार्गनिष्ठैः सुरधुनी लोकान्तरनदी भुवि तु पुनर्न कदाऽपि कीर्त्तिता तादृक्पुष्टिमार्गीयफलसाधकत्वेनेति। परं किन्तु सर्वदैव तवैव सङ्गमात सा तथा कीर्तिता। अतः सर्वदा तव लालना पूर्वोक्तरूपाऽस्त्विवति सम्बन्धो ज्ञेयः।।७।।

अशक्यस्तुतित्व इति। वागगोचरमाहात्म्यसत्त्वाद्यथा रसस्वरूपानन्देऽशक्य स्तुतित्वम्।"यतो वाच" इति श्रुतेः। तथाऽत्राऽपीति भावः। कमलजासपत्नीति हेतुनिरूपणम्। सपत्नीत्वेन लक्ष्मीविरुद्धस्वभावत्वादित्यर्थः। अयमभिप्रायः। लक्ष्मीर्हि प्रमाणसिद्धब्रह्मानन्दस्वरूपा। अतः प्रमाणभूतैर्वेदादिवाक्यैर्लक्ष्मीमाहात्म्य निरूपणमुपपद्येताऽपि। त्वं तु पुष्टिलीलास्थत्वेन तदतीतप्रमेयानन्दरूपेति "यतो वाच"

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

सङ्गमात्। तत्र गमकं, पुष्टिस्थितैस्तु कदापि नेति। केवला न कीर्तितेत्यर्थ इति समीची भाति। तथाच सेवोपयोगिदेहसम्पादकत्वं गङ्गाया अस्ति, परं नाऽभीष्टसेवोपयोगिदेहसम्पादकत्वम्। तेन नाऽन्यथा सिद्धिः। यदि तया सा स्यादभियुक्तैः साऽपि स्तूयेत। तदभावा "द्यया चरणपद्मजे" त्यर्द्धेनोक्तोऽर्थ उपपन्नतर इति भावः। अत्राऽपि तनुनवत्वरूपं सप्तममैश्वर्यं स्पष्टमेव।।७।।

नन्वस्तु गङ्गापेक्षया स्तुत्यत्वम्। सम्बन्धाधिक्यात्, न तु लक्ष्म्यपेक्षयाऽपि। तथा सति तनुनवत्वार्थं सैव स्तोतव्या। यत्पुनस्तया सदृशतामित्यर्द्धेनोक्तमतिप्रियत्वं तत्तु भक्तमानापनोदकेषु गुणातीतभक्तान्तरेष्वपि। कलिनिवारकत्वधर्मस्य साधारणत्वान्न तेनाऽनुमातुं शक्यमिति मानाभावान्नोपपन्नमित्याशङ्कायां, लक्ष्म्यपेक्षया जीवोपकारकत्वं गङ्गायां सुप्रसिद्धमिति। तत आधिक्ये लक्ष्म्यपेक्षयो पकाराधिक्यं कैमुतिका देवसिद्ध्यतीतिन लक्ष्म्यास्तदर्थं स्तोतव्यत्वमित्याशयेनाऽष्टमश्लोकमवतारयन्ति यत्रेत्यादि। उक्तार्थसूचनायाऽत्र सर्ववन्द्यपदम्। अतः परं कार्येणाऽतिप्रियत्वसाधकोऽग्रिमग्रन्थ उक्तेऽर्थे हेतुत्वमपि भजत इत्याशनेन तमवतारयन्त्यशक्येत्यादि।

१ सा पूर्वोक्तरूपेति ग.घ. २ रसरूपेति ख. ३ ब्रह्मानन्दरूपेति च.

हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षत:।।

सर्वत्र स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात्। स सर्वत्र लक्ष्म्यपेक्षया न्यून एव। त्वन्तु तस्या अपि सपत्नी तत्समानसौभाग्यवती। ननु लक्ष्मीस्तुतिस्तु लोके दृश्यते। तर्हि तत्साम्यं चेत्कथं स्तुतिरशक्येत्याहु: प्रिये इति। साम्यमात्रे कर्त्तुं शक्यत एव। अत्र तु ततोऽप्यधिकं प्रियत्वमस्तीति स्तुतिकरणमशक्यम्। ननु कथं ज्ञायते लक्ष्म्यपेक्षयाऽऽधिक्यमस्तीति, तत्र हेतुमाहुर्हरेर्यदनुसेवयेति।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

इति श्रुतेरशक्यस्तवेति विरुद्धस्वभावत्वात्सपत्नीति। लक्ष्म्या: स्तुत्यत्वमुपपादयन्ति सर्वत्रेति। लोके वेदे च स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात्। तदभावे निन्द्यत्वमेव। ''मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिमि'ति वचनात्। सम्बन्धतारतम्येन स्तुत्यत्वतारतम्यम्। तथाच सम्बन्धस्तु लक्ष्म्या निरतिशय एव, उरसि सर्वदा निवासात्। अत: स्तुत्यत्वं तत्रोपपन्नमिति भाव:। तत्समानसौभाग्यवतीति। अन्यासां भगवत्पत्नीनां लक्ष्म्यंशत्वेन तदधीनत्वम्। तव तु तत्समानसौभाग्यवत्त्वेन लक्ष्मीवत्स्वातन्त्र्यमिति भाव:। ननु लक्ष्मीस्तुतिस्त्विति। स्वातन्त्र्येऽपि साम्यसत्वे लक्ष्मीस्तुतिरिव कथमेतत्स्तुतिरशक्येत्याक्षेपार्थ इत्यर्थ:। प्रिय इति सम्बोधनम्। स्वातन्त्र्येण साम्येऽपि प्रियात्वेन ततोऽप्याधिक्यसत्वान्न लक्ष्मीदृष्टान्तेन शक्यस्तुतित्वमस्या उपपद्येतेति भाव:। अत एव ''श्रियं चाऽऽत्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परे'ति'' दुर्वाससं प्रति प्रभुरेवैतादृशानां ततोऽपि प्रियत्वमाहेत्याधिक्यं प्रमाणसिद्धमेव। फलतोऽप्याधिक्यं वक्तुमाहुर्हरेर्यदनुसेवयेति। हरे: सम्बन्धिनी या यदनुसेवा हरिसाहित्येन तत्रापि अनु पश्चाद्भगवत्सेवां विधाय गौणभावेन यस्या: सेवा तया मोक्षं पुरुषोत्तमसायुज्यं मर्यादीकृत्य सालोक्यादिसुखं भवति। पुरुषोत्तमसायुज्यस्य भक्तिमार्गेण केवलभगवत्सेवासाध्यत्वात्। अत एवोक्तमाचार्यवर्यै:-''आदिमूर्त्ति: कृष्ण एव सेव्य: सायुज्यकाम्यये'ति निबन्धे''। तत्रापि कृष्णपदेन भक्तिप्राप्य: प्रभुरेवकारेण इतरनिरासश्चोक्त:। मोक्षप्राप्तिर्भवतीति। सालोक्यादिमोक्षप्राप्तिर्भवतीत्यर्थ:। अत एव वैकुण्ठे लक्ष्मीसखीनां सालोक्यादिसुखं, न

---

१ तत्स्वातन्त्र्येऽपीति ख. २ प्रमाणप्रसिद्धमेवेति क.ग.घ.ङ.च. ३ केवलमिति ख.

इयं तव कथाऽधिका सकलगोपिकासङ्गम।

स्मर श्रमजलाणुभि: सकलगात्रजै: सङ्गम:।।८।।

हरेरनु पश्चाद्यस्या: सेवया मोक्षं मर्यादीकृत्य सुखं भवति। मोक्षप्राप्तिर्भवतीत्यर्थ:। न तु ततोऽप्यधिकं भजनानन्दाख्यं सुखं भवति। तदपि भगवत्सहिततद्भजनेन न तु केवलाया:, केवलाया मोक्षविघातकत्वात्। अनुशब्दा न्मुख्यतया भगवद्भजनम्। तदनुगुणत्वेन लक्ष्म्या:। कालिन्द्युत्कर्षमाहुरियं तव कथेति। इयमग्रत उच्यमाना तव कथाऽपि सर्वमुक्त्यपेक्षयाऽधिका। अतएव एतत्कथारसिकानां न मोक्षेच्छागन्धोऽपि। तदेव उक्तं पञ्चमस्कन्धे ''अथ ह वा व तव महिमामृ तसमुद्रविप्रषा सकृल्लीढयाविस्मा रितदृष्टश्रुतसुखलेशा

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

लक्ष्मीवत्पुरुषोत्तमनित्यसंयोगरूपसायुज्यम्, तस्य लक्ष्मीमात्रभोग्यत्वात्। न हि स्वभोग्यमन्येभ्य: कोऽपि दातुमीष्टे। अत एवोक्तं बालबोदे-''लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तत्तन्न यच्छति कर्हिचिदि'ति''। न तु ततोऽपीति। सायुज्यादप्यधिकमित्यर्थ:। हरेरित्यस्य षष्ठ्यन्तपदस्य सम्बन्धिबोधकस्य तात्पर्यमाहुस्तदपीति मोक्षसुखमपीत्यर्थ:। केवलाया मोक्षविघातकत्वादिति। केवला भगवत: पुरुषोत्तमाद्भेदेन स्थिता विभूतिरूपा भजनेन धनादिसम्पत्प्रदातस्या विषयासक्तिहेतुत्वेन वैराग्यविघातद्वारा मोक्षविघातकत्वमित्यर्थ:। कालिन्द्युत्कर्षमिति, भजनानन्दरूपफलसाधकत्वेन लक्ष्मीत उत्कर्षमित्यर्थ:। सर्वमुक्त्यपेक्षयेति, लक्ष्मीतत्सेवकफलरूपसायुज्यसालोक्यादिमुक्त्यपेक्षयेत्यर्थ:। अत एवेति, यतो मुक्त्यपेक्षयैतत्कथाया आधिक्यमित्यर्थ:। एतत्कथारसिकानामिति। मोक्षे हि न भेदेन स्थितिरिति सर्वात्मभावलभ्यरसकथा

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

अनुशब्दोक्तस्य पश्चात्त्वस्य सापेक्षत्वादवधिं बोधयितुं हरेर्यदन्वित्येवं प्रतीकं तव्द्याख्यानं चेति ज्ञेयम्। तेन न दोष:। शेषं स्फुटम्। एवं लक्ष्म्यपेक्षया गङ्गापेक्षया चाऽऽधिक्यं साधयित्वा तत्र हेतुमुत्तरार्द्धेन वदन्तीत्याशयेन तमवतारयन्ति व्याकुर्वन्ति च कालिन्द्यामित्यादि, इयमित्यादि च। सकलेत्यादि, इदमपि यमुनामाहात्म्ये ''केलि

---

१ सर्वत्र मुक्त्यपेक्षयेति. २ वैराग्यविघ्नद्वारेति च.

भासा: परमभागवता एकान्तिन:'' इति। सा का इति आकांक्षायाम् आहु: सकलगोपिकेति। सकलगोपिकासङ्गमेन स्मरसम्बन्धी य: श्रमस्तेन जनिता ये स्वेदजलाणव: सकलगात्रजास्तै: सङ्गमो यस्या:। एते जलाणवो न श्रमस्वेदरूपा: किन्तु विविधसङ्गमरसस्य सर्वावयवपूर्णस्याऽत्युच्छलनेन बहिरागतस्यैव बिन्दवो न तु केवलजलमात्रस्य। अत एवोक्तं सकलगात्रजैरिति। एभिर्विशेषणै: परमकाष्ठापन्नपुष्टिपुष्टिमार्गान्तरङ्गभक्तत्वं सर्वदैतद्रसपूर्णत्वमन्तरङ्गभक्तानुगुणत्वमेतल्लीलामध्यपातित्वादिकं सूचितम्। स्वस्यैतद्रसपूर्णत्वेन केवलैतद्भजनकर्त्तुरप्येतद्रसं ददातीति स्पष्टमेव वैलक्षण्यम्।।८।।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

रसिकानां तत्र तदभावान्न तदिच्छागन्धोऽपीत्यर्थ:। ''अथ ह वावे'' त्यादिना प्रमाणोपन्यास:। सा केति। कथेत्यर्थ:। यस्या इति पञ्चमी षष्ठी च व्याख्येया। पञ्चमीपक्षे-यस्या: सकाशादन्येषामेतत्सम्बन्धिनामपि तत्सङ्गम:। षष्ठीपक्षे-श्रीयमुनायास्तत्सङ्गम:। तदाऽपि कृपया तद्रसदातृत्वमित्यर्थ:। एभिर्विशेषणैरिति। एतत्कथायां सकलगोपिकास्तत्सङ्गम:, सोऽपि रसावेशजनितो येन श्रम: तेनोद्भुतं स्वेदजलं तदीया अणवोऽतिसूक्ष्मबिन्दवस्तै: सङ्गम:, एतावन्ति कथाविशेषणानि तैरित्यर्थ:। एतादृशी एतत्कथेत्यस्यामपि परमकाष्ठेत्याद्युक्तसकलधर्मवत्त्वं सूचितमित्यभिहितमिति भाव:। केवलैतद्भजनकर्त्तुरपीति। अनन्यभजनकर्त्तुरित्यर्थ:।।८।।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृति:।

सलिले'' ति नाम्नि प्रसिद्धम्। केलि: सलिले यस्या इति तदर्थात्। किञ्च। ''ब्रह्मविद्यासुधावहा'' इति नाम्न्यपि भगवतस्तरणलीलायां प्रवाहे गण्डूषपाताद्ब्रह्मविद्यारूपभगवन्मुखसुधां वहतीत्यपि स्फुटति। यद्यपि श्रमजलगण्डूषजलसम्बन्धो लीलासमय एव, तथापि श्रीयमुनाया: सप्तसागरान् भित्त्वा सूर्यमण्डलाद् रहट्टवत्पुन:पुनरत्राऽगमनेन इदानीमपि सोऽस्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम्। अत्रापि लीलासामयिकप्रभुश्रमजलकणसम्बन्धसम्पादकत्वरूपमष्टममैश्वर्यं स्पष्टमेव।।८।।

---

१ पराकाष्ठापन्नेति क-ख.

तवाऽष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा*
समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः।

एवं कालिन्दीं स्तुत्वैतत्स्तोत्रपाठफलमाहुस्तवाऽष्टकमिति। यद्यप्यन्यकृतान्यपि स्तोत्राणि सन्ति तथापि वक्ष्यमाणं फलमेतत्स्तोत्रपाठेनैव भवति, नाऽन्यथेति ज्ञापनायेदमित्युक्तम्। अन्यकृतस्तोत्रेष्वेवंविधस्वरूपनिरूपणाभावात्। इदं तवाष्टकं यः पठति तस्य पूर्वं समस्तदुरितक्षयो भवति। तदनन्तरं मोक्षदातर्यपि स्नेहो भवति। अतएवोक्तं, ''नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत'' इति। मुकुन्दपदाद्यद्यपि मोक्षमेव साधारण्येन सर्वेभ्यो ददाति तथापि त्वत्स्तुतिपाठात्प्रसन्नो भक्तिमेव ददाति न तु मोक्षमपीति भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमुक्तम्। ततः किमिति तत्राऽऽहुः तया सङ्कलसिद्धयः पूर्वोक्ताः सर्वात्मभावादयो भवन्तीति शेषः। ननु प्रति–

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

वक्ष्यमाणमिति। अनुपदमेवाऽत्र पद्ये वक्ष्यमाणमित्यर्थः। समस्तेति ब्रह्मसम्बन्धवदेकहेलया अखिलपापक्षय एतत्स्तोत्रपाठेन बोधितः। तदन्तरमिति। भक्तिप्रतिबन्धकसमस्तदुरितक्षयानन्तरमित्यर्थः। अन्यथा दुरितानामनन्तत्वेनैकदा तदनिवृत्तौ रत्युत्पत्तेरनवसरपराहतिः स्यात्। अत एवेत्यादिना प्रमाणोपन्यासपुरस्सरं समस्तपापाभावस्य भगवद्भक्त्युत्पत्तौ हेतुता निरूपिता। यद्यपि ''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी'ति'' वाक्याज्ज्ञानेनाऽपि सर्वकर्मनिवृत्तिः। परन्तु तत्र ज्ञानसाधने क्लेशभूयस्त्वमत्र तु पाठमात्रेणैतत्स्तोत्रस्य सा भवतीत्यनायासेन तत्साधकत्वं पाठस्येति तदुत्कर्षो ज्ञेयः। प्रसन्न इति। यथा लीलासृष्टिस्थेभ्यस्त्वत्साक्षात्कारातत्वत्सम्बन्धेन प्रसन्नस्तथा आधुनिकेभ्यः परोक्षे त्वत्स्तुतिपाठादेव प्रसन्नो भवतीत्यर्थः। भक्तिमेवेति निश्चयवाचकं 'वा' इत्यव्ययपदप्रयोगतात्पर्यं ज्ञेयम्। भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमिति। एतत्स्तोत्रपाठस्येत्यर्थः। अत्राऽयं भावः। भगवत्स्वभावः स्वामिनीभ्यो एवं फलमन्येभ्यो न प्रयच्छति। अन्यथाऽनुकम्पापात्रमुद्धवं व्रजे न प्रेषयेत्। स्वयमेव तादृग्भावं दद्यात्। एतत्स्तोत्रपाठे तु तत्कर्त्तरि श्रीयमुनासम्बन्धावगमेन स्वामिनीभ्य इव स्वयमेव तादृग्भावं प्रपच्छतीति तथेति भावः ततः किमिति। भगवद्भावादग्रे किं भवतीत्यर्थः।

---

* अत्र श्रीपुरुषोत्तमचरणानां व्याख्यानं किञ्चिदस्ति तत् श्लोकान्ते निवेशितम्।

तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति।

स्वभावविजयो भवेद्वदति वल्लभः श्रीहरेः।।९।।

श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम्।

बन्धके विद्यमाने सति कथमेतत्स्तोत्रमात्रादेतावद्भवतीति चेत्तत्राऽऽहुर्मुररिपुश्च सन्तुष्यतीति। यथा दोषरूपं तन्निरुद्धकन्यासुखप्राप्तिप्रतिबन्धकं निराकृत्य ता अङ्गीकृतवानेवमेतत्पाठेनाऽपि प्रतिबन्धं निवार्य तमप्यङ्गीकरोतीत्यपि ज्ञापनाय मुररिपुपदम्। फलान्तरमाहुः स्वभावविजयो भवेदिति। स्वभावस्य विजयः परावृत्तिर्भवति। सवासनेति व्युपसर्गार्थः। दुष्टस्वभावोऽप्युत्तमस्वभावो भवतीत्यर्थः। नन्विदमनेकतपःसाध्यं कथमेतत्पाठमात्रादिति चेतत्राऽऽहुर्वदति वल्लभ इति। तेनाऽऽप्तवाक्यत्वेन प्रामाण्यमुक्तम्। नन्वितः पूर्वं केनाऽप्यनुक्तत्वाद् भवदुक्तिमात्रेण कथं प्रामाण्यमिति चेत् तत्र आहुः श्रीहरेरिति। साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसम्बन्धी यतः, अहमतो वदामीत्यर्थः।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

सन्तुष्यतीति। भगवत्प्रियात्वाद्यमुनायास्तत्स्तुतौ भगवत्तोषस्तत्रापि सम्यक्तोषो यथा गोपिकासु। अत एव "प्रियो भवति सेवनात्तव हरेरि'ति" पूर्वमुक्तम्। चकारेण स्वामिन्योऽपि तुष्यन्तीत्यर्थः। लोकेऽपि स्वस्तवनापेक्षया स्वप्रियस्तवनस्याऽतितोषहेतुत्वादिति भावः। फलान्तरमिति। प्रथममेकं फलं समस्तदुरितक्षयपूर्वकसकलसिद्धिसहितभगवद्भावप्राप्तिरूपं निरूपितत्यर्थः। स्वभावविजय इति। "काममयोऽयं पुरुष" इति श्रुतेः स्वभावस्य कामभावरूपजीवस्वभावस्य परावृत्तिः सर्वात्मभावसिद्ध्या भवतीत्यर्थः। यद्वा। स्वभावस्य सात्त्विकादिस्वभावस्य विजयः स्वाधीनीकरणं लीलामात्रोपयोगितया प्रवर्त्तनरूपं स्वरूपतो गुणातीतत्वसिद्ध्या भवतीत्यर्थः। अथवा। स्वभावस्य भगवद्धर्मप्रवेशजन्यमानादिस्वभावस्य दैन्यभावसिद्ध्या परावृत्तिर्भवतीत्यर्थः। दुष्टस्वभाव इति। शुद्धपुष्टिमार्गविचारेण पूर्वोक्तरूपस्वभावस्य दुष्टत्वमित्यर्थः। आप्तवाक्यत्वेनेति। यथादृष्टार्थवादित्वेनाऽऽप्तत्वम्। तच्चाऽऽचार्यचरणेष्वेव सम्भवति। लीलासृष्टिसम्बन्धित्वेन लीलास्थभजनफलजननदर्शनात्। अत एतदाप्तत्वमेतेष्वेवेत्येतद्विषये स्वोक्तमेव प्रमाणमिति बोधनाय स्वनामोक्तिरितिभावः। नन्वित्यादिना आप्तत्वसंशयमादाय पूर्वपक्षो ज्ञेयः। साक्षादित्यादिनिरूपणस्याऽयमभिप्रायः। हरिपदेन निःसाधनगजराजोद्धृतये तद्दैन्येन प्रादुर्भूतः पुरुषोत्तम उच्यते। स च पुष्टिमार्गीयप्रभुरेव। सर्वसाधनराहित्ये केवलदैन्येन प्रादुर्भूतत्वात्।

१ पूर्वकमिति क.ग.घ.ङ.

अत्राऽयमाशयः। साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपं साक्षात्तत्सम्बन्धिनएव जानन्ति न त्वन्ये। श्रीकालिन्द्याः साक्षात्तत्सम्बन्धित्वं पूर्वं प्रकटमेवोपपादितम्। स्वातिरिक्तानां साक्षाच्छ्रीगोकुलेशसम्बन्धाभावात्साक्षात्तत्सम्बन्धिन्याः स्वरूपाज्ञानात्तदकथनम्। स्वस्य तु साक्षात्तादृशत्वात्तत्स्वरूपज्ञानात्तत्कथनमिति नाऽनुपपत्तिः काचित्।

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचिता श्रीयमुनाष्टकविवृतिः सम्पूर्णा।

श्रीहरिरायप्रणीतंटिप्पणम्।

अत एवाऽग्रे साक्षादित्युक्तम्। पुष्टिमार्गीयातिरिक्तेषु साक्षात्सम्बन्धाभावेन साक्षात्स्वरूपप्रादुर्भावाभावत। तत्र तु पुरुषोत्तमस्य विशुद्धसत्त्वव्यूहादिव्यवधानमेव। अत एव श्रीपदम्। सौन्दर्यादिरसानुभावकधर्मप्राकट्यस्य पुष्टिमार्ग एव सम्भवात्। तादृशस्य वल्लभत्वेन सम्बन्धीति मदुक्तौ नाऽऽप्तत्वसंशयः पुष्टिपथानुगृहीतैरस्मदीयैर्विधेय इति दिक्।

इति श्रीमन्निजाचार्यकृपया परया युतः।
हरिदासश्चकारेदं टिप्पणं विवृतौ प्रभोः।।१।।
प्रसीदन्तु निजाचार्याः स्वदासे निजवंशगे।
प्रयच्छन्तु स्वतो भावं यमुनासहिते हरौ।।२।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणतामरसपरागाभिलाषिहरिदासप्रणीतं श्रीयमुनाष्टकविवृतिटिप्पणं सम्पूर्णम्।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीताविवृतिः।

नवमश्लोकतद्विवरणं चोत्तानार्थम्। तत्राऽपि मुदा सदेति पदाभ्यां स्वस्याप्तत्वोक्त्या चाऽऽनन्दस्य प्रत्यहमविच्छेदस्य स्वस्मिन्विश्वासस्य च पाठाङ्गत्वं श्रीमदाचार्यैर्दर्शितमिति बोध्यम्।।९।।

श्रीयमुनाष्टकविवृत्तिः प्रभुचरणकृपाबलेन विवृतेयम्।
यदि ह्रस्वमतिजदोषादसदुक्तं तत् क्षमन्तां मे।।१।।

इति श्रीमत्प्रभुचरणकृपाभिलापुकतत्तद्दासपुरुषोत्तमविरचिता श्रीयमुनाष्टकविवृतेर्विवृतिः समाप्ता।

श्रीकृष्णायनमः।

श्रीत्रिभङ्गीरायोजयति।

श्रीगोपीजनवल्लभायनमः।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

।।श्रीयमुनाष्टकम्।।

श्रीमत्प्रभुचरणविनिर्मितया टीकया

गो० श्रीद्वारिकेशचरणविरचिततट्टिप्पणेन च समलङ्कृतम्

मूलम् – नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान्करुणारसपूरितान्।
श्रीविठ्ठलेशांश्च विभून्निजेभ्यो बुद्धिदायकान्।।१।।
श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां भक्तिसिद्धये।
अकार्षुः षोडशग्रन्थान्स्वसिद्धान्तार्थबोधकान्।।२।।
तद्व्याख्यानं कृतं पूर्वैः प्रभुभिश्च पृथक्क्वचित्।
यमुनाष्टकमारभ्य सेवाफलमुदाहृताः।।३।।
स्वगुरुन्मथुरानाथान् गङ्गां च स्वीयमातरम्।
हेतुः षोडशग्रन्तानां टीकानां च मयोच्यते।।४।।

तत्र गोस्वामिप्रभुणां कृतीनां गणना :–

यमुनाष्टकसिद्धान्तमुक्तावल्योस्तथा पुनः।
नवरत्ने प्रकाशश्च त्रयं स्वैः प्रभुभिः कृतम्।।१।।
तट्टिप्पणं तु बहुभिर्वंशीयैर्बालकैः कृतम्।
तत्कृपाबलमाश्रित्य तद्ग्रन्थान्विवृणोम्यहम्।।२।।

तत्र ग्रन्थक्रमः पूर्वमुच्यते :

यमुनाष्टकमादौ तु श्रीकृष्णास्यं हि निर्ममे।
मुकुन्दरतिसिद्ध्यर्थं दुरितपक्षयपूर्वतः।।३।।
स्वभावविजयार्थं च मुरस्यारेश्च तुष्टये।
(जीवैस्तु नमनाधिक्यं नैव कर्त्तुं हि शक्यते।)
नमनादतिरिक्तं तु कर्त्तुं जीवैर्न शक्यते।।४।।

कृष्णस्य निरपेक्षत्वादिति स्वान्ते विचार्य हि ।
अधिकारस्य सिद्ध्यर्थं यमुनाष्टकमुज्जगौ ।।५ ।।
अग्रेऽधिकारसिद्धस्तु कर्तव्यज्ञापनाय वै ।
सुपुरुषार्थसङ्क्षेपं बालबोधे न्यरूपयत् ।।६ ।।
पुरुषार्थपरिज्ञाने साध्यसाधनभावतः ।
सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु सेवारूपं न्यदर्शयत् ।।७ ।।
त्र : सेवा च द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तर भेदतः ।
तन्निर्वाहाय सिद्धान्तरहस्यं प्रभुरुक्तगान् ।।८ ।।
तत्र बाह्यापदार्थानां शुद्धिरुक्ता समर्पणे ।
आन्तराणां तु शुद्ध्यर्थं नवरत्नं तथा पुनः ।।९ ।।
अन्तःकरणसम्बोधं प्रकटीकृतवान् स्वयम् ।
बाह्याभ्यन्तरयोः शुद्धिमेवमुत्पाद्य मत्प्रभुः ।।१० ।।
तन्निर्वाहार्थं विवेकधैर्याश्रयमरीरचत् ।
तत्राश्रयश्चित्तदोषान्न स्थिरो भवतीति हि ।।११ ।।
विचार्य कृष्णाश्रयाख्यं ग्रन्थं सूक्ष्मं न्यरूपयत् ।
आश्रये तु स्थिरे सिद्धे स्वकीयार्थप्रसिद्धये ।।१२ ।।
चतुःश्लोकीं चकाराग्निरुद्दिश्य स्वमनः प्रति ।
ततो मार्गत्रयस्यापि बोधनार्थं कृपानिधिः ।।१३ ।।
पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थं गूढमचीकरत् ।
एवं भक्तिप्रकरणं महाकारुणिकस्ततः ।।१४ ।।
दृढीकृत्य प्रवृद्धयर्तमकरोद्भक्तिवर्द्धिनीम् ।
एवं भक्तिं वर्धयित्वा जलभेदमिषेण तु ।।१५ ।।
भक्तानां लक्षणं प्राह सर्ववादिनिरासकृत् ।
पद्यानि च तदर्थं हि प्रोवाच निकिलेष्टदः ।।१६ ।।
उक्तश्च भक्विर्द्धिन्यां त्यागो भक्तिविवर्द्धनः ।
अतस्तस्य विवेकार्थं सक्क्यासे निर्णयं जगौ ।।१७ ।।
भावसिद्धौ भावनैव साधनं त्वपरं न हि ।
निरोधलक्षणे भावं व्रजस्थानामतश्चकौ ।।१८ ।।
इत्थं पञ्चदशग्रन्थैर्भावं संसाध्य कारणम् ।
उद्वेगप्रतिबन्धानां साधनैर्वारणैः सह ।।१९ ।।
फलं स कथयांश्चक्रे सेवाफलनिरूपणम् ।

तस्याप्यतिदुरूहत्वाद्विवृतिं चाकरोद्विभुः ।।२० ।।
एवं षोडशभिर्ग्रन्थैः पुरुषोत्तमसेवनम् ।
प्रतिपाद्य फलत्वेन चक्रे जीवोद्धृतिं विभुः ।।२१ ।।
अवतारदशायां तु उद्धृती रूपदर्शनात् ।
इह नामात्मकैर्ग्रन्थैः स्वदासानां सदोद्धृतिः ।।२२ ।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन दैवैः कर्तव्यमेव हि ।
सेवनं श्रीव्रजेशस्य तद्ग्रन्थानां च पाठनम् ।।२३ ।।
इति सिद्धं तथापीह लोके जीवा बहिर्मुखाः ।
कृता भगवदाज्ञप्तै रुद्रांशैर्ब्राह्मणैस्ततः ।।२४ ।।
तेषां साम्मुख्यसिद्ध्यर्थमर्थ ज्ञानमपेक्षितम् ।
तदर्थं ग्रन्थटीकास्तु प्रभुप्रभृतिभिः कृताः ।।२५ ।।
तासां मतं समालोक्य सर्वकर्तृकृपावलात् ।
मयापि क्रियते ह्येषा सुगमान्वयबोधिनी ।।२६ ।।
श्रीमदाचार्यचरणान्नमस्कृत्य पुनः – पुनः ।
गोपीनाथांश्च सुखदान् सप्तसूनुयुतान्प्रभून् ।।२७ ।।
श्रीदामोदरसञ्ज्ञं तत्पुत्रं विठ्ठलरायकम् ।
श्रीवल्लभं गिरिधरं तत्सूनुं विठ्ठलेश्वरम् ।।२८ ।।
द्वारिकेशं गिरिधरं मथुरानाथसञ्ज्ञकम् ।
हरिरायनश्रेष्ठौ स्मृत्वा तट्टिप्पणीकृतौ ।।२९ ।।
यमुनाष्टकटीकायाष्टिप्पणं विलिस्वाम्यहम् ।
तत्र बुद्धिं प्रयच्छन्तु श्रीमदाचार्यवंशजाः ।।३० ।।

मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम्।

विश्वोद्धारार्थमेवाऽऽविर् भूतवृन्दावनप्रिया:।

कृपयन्तु सदा तातचरणा मयि विट्ठले।।१।।

विविधलीलोपयोगिनीं कालिन्दीं स्तोतुकामा: श्रीगोकुलेशे यथा जीवै: नमनातिरिक्तं न कर्तुं शक्यं तथा कालिन्द्यामपीत्शयेनाऽऽदौ नमनमेवाऽऽहुर्नमामीति । भगवताऽष्टविधैश्वर्यं कालिन्द्यै दत्तमिति ज्ञाप-

---

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

अथ श्रीमदाचार्यनन्दना: श्रीयमुनाष्टकं व्याचिख्यासव: श्रीमदाचार्यश्रीयमुनाश्रीगोवर्द्धनधराणां स्वरूपैक्यस्य बोधं कुर्वन्तस्तत्कृपां प्रार्थयन्ति विश्वेति। विशन्ति लयसमये भगवतीति विश्वे, दैवजीवास्तेषामुद्धारो ब्रह्मसम्बन्धकारणात्, संसारान्विमुच्य स्वरूपानन्ददानम् (इति)। तदर्थमेव एवकारोत्रान्ययोगव्यवच्छेदक:। वृन्दावनं प्रियं येषां ते च ते आविर्भूताश्च तथोक्ता:। यद्वा। लीलार्थमाविर्भूतं यद्वृन्दावनं तत्प्रियं येषां ते पितृचरणा मयि विठ्ठले ज्ञानशून्यानुग्रहके सदा कृपां कुर्वन्तु। एतेन निजाचार्यस्वरूपनिरूपणस्वस्वरूप निरूपणश्रीयमुनास्वरूपनिरूपणश्रीगोवर्द्धनधरस्वरूपनिरूपणपूर्वकं कृपाबलं सम्प्रार्थ्य प्रथमश्लोकमवतारयन्ति विविधेति। अहं सर्वभवनसमर्थ:।

(यमु उपरमे। यमयति जीवान्भगवत्समीपे रमयति) अनेका या लीलास्तासां उपयोगिनीं समीपसम्बन्धसम्पादनकर्त्रीम्। अत एव कालिन्दीम्, कलेर्दोषस्य खण्डनकर्त्रीम्, श्रीयमुनां स्तोतुकामा इति स्तुतेरपि प्रहत्वे शब्दे च प्रहत्वं कायिकी नति: जयजयशब्दोच्चारपूर्विका। इच्छाविषयत्वं तत्कृपाधीनत्वात् श्रीभिर्युक्तस्य गोकुलस्य स्वामिनि जीवैस्तदंशत्वात्तदधीनै: गमनाभावान्नमनाधिकार इतिन्यायेन नमनमेवादौ, अग्रे तु नमनेन दैन्याविष्कृतौ प्रभुकृपया विशेषाधिकारे सम्पन्ने स्तुतिप्रार्थने अपि कर्त्तुं शक्ये भविष्यत:। एवकारेणाग्रे करणीयाया: ''मम मन: सुखं भावये''ति ''तनुनवत्वमस्त्वि'' त्यादिरूपप्रार्थनाया अस्फूर्ति: सूचिता। श्लोकसप्तकाकारणमाहु: भगवतेति। ''रसो वै स'' इतिश्रुत्या स्वयं रसात्मा रमणार्थमाविर्भूत:। स्वस्य रसात्मत्वसिद्ध्यै सर्वात्मभावबद्धक्ताधीनो जात:। तथा सन् सर्वलीलोपयुक्तस्वामिन्यां स्वस्याष्टविधं पुष्टिमार्गीयमैश्वर्य्यं स्थापितवान्। तत्स्वरूपं श्रीहरिराया आहु:, सकलसिद्धिहेतुत्वम् १।भगवद्भाववर्द्धकत्वम्, २।भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धकनिराकरणेन तदनु-

तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना।
सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्॥१॥

नाय अष्टभिः श्लोकैः स्तुवन्ति। साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगिदेहाप्ति-तल्लीलावलोकनतद्रसानुभवसर्वात्मभावादयः सकलसिद्धयः ज्ञेयाः। अतएव नमनं मुदपि। (मुदेति क-ग।) जलदोषात्मकमुरस्य अरेः पदपङ्कजयोः स्फुरन्तः सेवोपयोगि-देहादिसम्पादनोन्मुखाः ये रेणवो अमन्दाः व्रजसुन्दरीवृन्दचरणरेणुसाहि-

---

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

भवयोग्यताहेतुशुद्धिसम्पादकरूपं भुवनपावनीत्वम्, ३। भगवत्समानधर्मवत्त्वेप्यनायासेन तत्सम्बन्धसम्पादकत्वम्, ४। भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वम्, ५। भगवदीयोत्कर्षाधायकत्वम्, ६। भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वम्, ७। तनुनवत्वसम्पादकत्वम्, ८। सकलः कलासहितः पुरुषोत्तमः तस्य सिद्धिः वश्यत्वेनात्राप्तिः। इदं च लीलासृष्टिस्थेष्वेव ज्ञेयमिति सकलेति। विवृण्वन्ति साक्षादिति। आवरणानच्छन्नावलोकम्, तद्रासानुभवसर्वात्माभावादयः सकलसिद्धयो ज्ञेयाः। अत एव नमनं, आवरणानवच्छन्नभगवत्सेवनयोग्यदेहप्राप्तिरूपा १। तादृशस्य लीलादर्शनरूपा, २। तस्यैव रसस्य स्वेन्द्रियविषयीभूतकरणरूपा, ३। सर्वत्र भगवद्भावरूपा, ४। आदिपदेन भगवदाविष्टदेहाप्तिः, ५। परावृत्तचक्षुषान्तराविर्भूतलीलावलोकनसिद्धिः, ६। भावात्मकस्वरूपेण तदात्मकतद्रसानुभवः, ७। विरहसामयिकसर्वात्मभावसिद्धिः, ८। इति। श्रीहरिरायाः। अत इति, यतोष्टविधैश्चर्यवत्सकलसिद्धिहेतुभूतश्रीयमुनायाः प्राकट्यमलभ्यलाभः। अतो नमनं मुदा हर्षेण। मुरारिपदपमजेति विवृण्वन्ति जलेति। जले दोषो मुर एव। मुरदैत्यसम्बन्धादेव षोडशसहस्रनायिकानां भगवत्प्राप्तौ प्रतिबन्धकम्। मुरनाशे तु भगवत्प्राप्तिरनायासेन। तत्सम्बन्धादेव जलं भगवत्प्राप्तौ प्रतिबन्धकं भवति। अत्र तु तन्नाशकस्य भगवतः पदपमजसम्बन्धिनः सेवायोग्यदेहकरणतत्पराः श्रीरेणवोऽधिकाः सन्ति। तेन मूलेऽपि लीलोपयोगिनीत्वं सूचितम्। जलाधिक्ये तु क्रीडायां निमज्जनभयं मकरादिभयमपि भवेत्। अत एव दशमस्कन्धीयपञ्चदशाध्याये अगाधतोयह्रदिनीत्युक्तिः। तटस्थेति मूले तीरस्थानां नवानां वनानां प्रकटो यो मोदः गन्धः पुष्पाणि च तत्सहितेन जलेन। स्मारकत्वं जलस्य भ्रमरगीते "सरिच्छैलवनाद्देशो गावो वेणुरवा इमे। पुनः-पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत"। मोदः सत्त्वरूपः, पुष्पाणि रजोरूपाणि, काननानि तमोरूपाणि।

कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला।

त्येन अनल्पाः ते उत्कटा जलापेक्षया अधिका यत्र। एतेन दोषभयं भगवत्प्राप्तिविलम्बश्च अपास्तः। अग्रे स्पष्टम्। जलदर्शनस्य भगवत्स्मारकत्वं भावजनकत्वञ्च ज्ञापयितुं 'स्मरपितृ'पदम्।।१।।

आविर्भावप्रकारम् आहुः कलिन्द । रविमण्डलाद् अतिदूराद् गिरिमस्तके पाते फेनेन प्रवाहजलेन च उज्ज्वला। उच्चनीच–शैलारोहावरोहौ विलास–गतिरूपौ। तत्र उल्लसन्तः शोभां प्राप्नुवन्तः प्रवाहवेगेन उच्चैः क्षिप्ताः अतएव प्रकटाः सर्वेषां दृश्याः तैः ताः तादृशैः तथा। उच्चतः पाते शोभाम् उक्त्वा ततः विषमभू–

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

तमोरूपमासुरभावः। रजःसत्त्वरूपं सुरभीति वृक्षाः पुष्पाणि हरिसमीपे अन्यद्वारा गच्छन्ति, मोदः स्वतः। श्रीकृष्णो घनीभूतरसः। भक्तानां दर्शनार्त्तितापः सूर्यः। तत आवीर्भूतरसात्मा श्रीयमुना प्रादुर्बभूत। दार्ष्टान्तिकेतु दैन्यभावमानभाववतीभिः सुतरां पूजितस्य, स्मरणं स्मरः, तज्जनकस्य शोभां पोष्यन्तीति वा। एवेनेति रेणुषु जलदोषनिवारकभगवत्सम्बन्धकथनेन, एतद्द्वयं दूरीकृतम्। स्फुरत्पदेन सूचितसेवायोग्यदेहसम्पादनोन्मुखत्वेन च, जलेति, जलस्वरूपं तु द्वितीयश्लोकविवरेण श्रीहरिरायैरुक्तम्। तथा हि, द्रवीभूतरसात्मैषा सर्वाङ्गीणश्रमाम्बुभिः, नारायणस्य हृदयाच्छुद्धसत्त्वस्वरूपतः, प्रादुरासीन्मूलरूपं पुष्टिलीलाप्रसिद्धये। एतादृशजलस्य दर्शने तल्लीलास्मरण भावजननं च युक्तमेव। विशेषणत्रययुक्तां यमुनामहं मुदा नमामीतिसम्बन्धः। अस्मिन् श्लोके सकलसिद्धिहेतुत्वं प्रथममैश्वर्यं दर्शितम्।।१ ।।

अग्रिममवतारयन्ति। आविर्भावेति। कृष्णावतारे यथा भगवत अलौकिकप्रकारेणाविर्भावः तथा श्रीयमुनाया अपि। भगवान् वसुदेवगृहेऽवतीर्य नन्दगृहे समागत्य सर्वभक्तसंवलितो भूतः तथा श्रीयमुनापि सूर्यमण्डलवर्तिनारायणहृदयानन्दमयादाविर्भूय कलिन्दोपरि पतिता कलिन्दनन्दना जाता, तेनात्रापि पितृद्वयम्, ततो व्रज आगत्य भक्तसंवलिता जाता। तत्रेति विलासेन गमने। तैरिति। गण्डशैलैः। तादृशैरिति जलेन प्रक्षिप्तैः। अत्रायमाशयः, जलं यदा उच्चैः पतति तदा फेनाकारमाशुगामि च भवति। यत्रोच्चैः पतति तत्र ह्रदो भवति। तत एव पर्वतच्युता स्थूलोपलाश्च तिष्ठन्ति। तदुपरि जलप्रवाहे सति या शोभा सैव विलासगतिः तथेति उन्नता। विषमेति, वैषम्यं च

* पद्मपुराणे हिमाचलशिखरे सञ्ज्ञितः कलिन्द इति सञ्ज्ञा।

विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता।

सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढदोलोत्तमा।

मुकुन्दरतिवर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता।।२।।

भुवं भुवनपावनीम् अधिगताम् अनेकस्वनैः।

मिगतिशोभाम् आहुः सघोष।।। इति। 'दन्तुर'शब्देन विविधविकारवत्त्वम् उच्यते। ''विपुलपुलकभरदन्तुरितम्'' ''केतकीदन्तुरिताशे'' इत्यादिजयदेवोक्तिरपि। व्रजजन–गोवृन्दादि–विविधगतिभिः तादृशीव। घोषः शब्दः व्रजः वा। अनतिस्थूलशिलासु गतिशोभया असमधिरूढेव समधिरूढदोलोत्तमा। ततो भूमौ आगत्य मुकुन्दरतिवर्द्धिनी जाता। यतः रसाकरसखस्य सुता। अतः स्वयमपि रसात्मिका इति भावः।।२।।

***ततो भुवि आगतायाः धर्मान् आहुः भुवम् इति। प्रयोजनम् भुवनपावनीम् इति।**

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

पर्वतसामीप्यात्। जयतीति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तनमैश्वर्यं, मुकुन्दरतिवर्द्धन वीर्यं, समधिरूढदोलोत्तमा इतिश्रीः, सघोषपगतिदन्तुरेति यशः, ''प्रकटगण्डशैलोन्नता'' विलासगमनोल्लसदिति ज्ञानं, अमन्दपूरोज्जलेति वैराग्यं। घोष इति शब्दपक्षे। शब्दसहिता या गतिस्तया विविधभाववती प्रियाभिमुखं गच्छन्ती गायन्तीव। व्रजपक्षे घोषेण सहिताः सघोषाः। व्रजं विहायान्यत्र कदापि न गच्छन्ति, ते तथोक्ताः व्रजजनाः, गोविन्दश्च, तेषा रोधसि क्रीडार्थं पर्यटनेन विविधभाववती। समधिरूढेति, समधिरूढा दोलोत्तमा यया सा। सूक्ष्मशिलासु गमनशोभया दोलायामारूढा इति लक्ष्यते। यद्वा, असमधीतिपदच्छेदः। अत्रायमाशयः। तत इति पर्वतसामीप्यात्। साधारणपृथिव्यामगत्य मुकुं मोक्षं ददातीतिमुकुन्दस्तस्य रमणस्य वर्द्धिनी जाता। यत इति रसात्मकं कमलं तत्सखा सूर्यः, तस्य पुत्रीति हेतुगर्भ विशेषणम्। मूले जयतीति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। अयमेव सर्वोत्कर्षः यन्मोक्षदातुः रतिवर्द्धिनीयम्। अन्वयस्तु, या पूर्वं कलिन्दगिरिमस्तकेऽपतत्। सा पञ्चभिविशेषणैर्युक्ता पद्मबन्धोः सुता जयति। अस्मिन्पद्ये भाववर्द्धकत्वं द्वितीयमैश्वर्यं दर्शितम्। पूर्वश्लोके तु सकलसिद्धिहेतुत्वं स्फुटमेव ।।२ ।।

अग्रिममवतारयन्ति ततो भुवीति, धर्मानिति। भगवान् रमणार्थमवतीर्णस्तदेयमपि तदुपयोगिन्यवतीर्णा। तत्र च श्रृङ्गाराविर्भावादयः अपेक्षिता धर्माः, तान्, प्रयोजनमितीति। श्रीयमुनाया भूमावागमनस्य प्रयोजनं भुवनस्य दैवीजीवशरीरस्य

---

* ''ततो भूमीति'' पाठः श्रीपुरुषोत्तमचरणानां हस्ताक्षरप्रन्धे वतृते।

प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभि:।

तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुका-

नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम्।।३।।

अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते।

अनेकस्वनै: इति शुकादिविशेषणम्। एतेन विभावादिसामग्री उक्ता। यत्र यथा उचितं तत्र तथा कुर्वन्तीति 'प्रिया'पदम्। तीरस्य चाकचक्यवत् सिकताकृतशोभां तत्स्वरूपमपि आहु: तरङ्गेति। यदा तरङ्गास्तीरमागत्य प्रसृता भवन्ति तदा तीरसिकता मुक्तावद्भासन्ते। ता न सिकता:। लोकप्रतीति: परं तथा। किन्तु तरङ्गाएव भुजास्तत्र यानि कङ्कणानि तत्र प्रकटा या मुक्तिका मुक्ताफलानि तान्येव वालुकावत्प्रतीयमानानि तद्युक्तो यो नितम्ब एवोच्चदेशात्मकतटस्तेन तादृशीम्। भगवति स्नेहातिशयो विशेषणेनोक्त:।।३।।

भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुं तथा विशेषणैराहुरनन्तेति। प्रभा

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

दुरितक्षयपूर्वकं भगवद्भावदानेन पावनकर्त्रीत्वं स्नेहातिशय इति। (श्रीपुरुषोत्तमास्तु पाविनीमिति पेठु:)। अप्राकृताखिलभूषणभूषितकथनेनाप्राकृताखिलभूषणभूषितेन (तरङ्गादीनां भुजादित्वं हरिवंशे सूपपादितम्।) भगवता स्नेहातिशयो युक्त एव। समानशीलव्यसनेषु सख्यमिति नियमात्। भगवतोऽप्राकृतभूषणभूषितत्वम्। "उद्दामकाञ्ची" त्यत्र स्फुटतरमस्ति मूले कृष्णतुर्य्यप्रियामिति। व्रजे भगवद्भोग्याश्चतस्र: स्वामिन्यो मुख्या:। श्रीराधिकायूथस्थास्तामस्य:। श्रीचन्द्रावलीयूथस्था राजस्य:। कुमारिकायूथस्था: सात्विक्या:। श्रीयमुनायूथस्था गुणातीता: तुर्या:। तासु इयं तुर्य्यातस्तथाकथनमिति। "कालिन्दीतिसमाख्याता वसामि यमुनाजले" इति वाक्येनास्या: कालिन्दीभिन्नत्वेपि प्रियात्वमुपपन्नम्। शुको वाचिकीसेवां करोति। मयूर: कायिकीं, हंसो मानसीं, आदिपदेन पारावतकोकिलसारसचक्रवाकेदातूहादयो गृहीता:। अन्वयस्तु, भुवनपाविनीं, भुवमधिगतां, प्रियाभिरिव स्थितै: अनेकस्वनै: शुकमयूरहंसादिभि: सेवितां, तरङ्गभुजकमणप्रकटमुक्तिकावालुकानितम्बतटसुन्दरीम्, कृष्णतुर्यप्रियाम्, यूयं नमत, इति दैवीजीवान्प्रति विधि:। अत्र भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धकनिराकरणेन तदनुभवयोग्यताहेतुशुद्धिसम्पादकरूपं भुवनपावनीत्वं तृतीयमैश्वर्यं दर्शितम्।।३।।

अग्रिममवतारयन्ति भगवत्समानधर्मत्वमिति। यथा भगवानैश्वर्यादिभि:

---

* तरङ्गादीनां भुजादित्वं हरिवंशे सूपपादितम्।

घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे।

सप्तम्यन्तानि विशेषणानि। तत्प्रियायां सम्बुद्धिरूपाणि। घनाघनशब्दो निपातरूपो घनसमुदायं वदति। श्यामे। तादृशीति वा। ध्रुवादेस्तत्तीर

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

षड्भिर्गुणैः सहितः स्वयं धर्मी, तथेयमपीति सप्तभिर्विशेषणैः स्तुवन्ति। मूले अनन्तेति। अत्र पक्षद्वयमाहुः प्रभौ सप्तसम्यन्तानि विशेषणानि श्रीयमुनायां सम्बुद्ध्यन्तानि। सम्बुद्धिरूपाणीति। आद्ये पक्षे अनन्ता अपारा येऽलौकिका गुणास्तैर्भूषितेऽलमृते। द्वितीये अनन्तस्य भगवतो भक्तमनोरथपूरकादयो गुणास्तैर्भूषिते। एतेन विशेषणेन ''गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते'' इति वाक्याद्गुणानां पूज्यत्वात् ''ईश्वरः पूज्यते लोकैर्मूढैरपि यदा कदा। निरुपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिण'' इति वाक्योक्तमैश्वर्य्यं निरूपितम्। शिवविरञ्चिदेवस्तुते इति विशेषणेन ''वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः। सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्छा तेन ततो महत्'' इत्यत्रोक्तं वीर्यमुभयत्र निरूपितम्। घनाघनेति विशेषणेन उभयत्रापि स्वरूपसौन्दर्यं सर्वविस्मारकं विश्वजीवनत्वादिकं च निरूपितम्। तेन ''यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात्। स्वधर्मं योजयेत्तेषु तदा भवति नान्यथा'' इत्यत्रोक्तं यशो निरूपितम्। ध्रुवपराशराभीष्टदे अनेन स्वसेवकानामभीष्टदानेन ''श्रियो हि परमाकाष्ठासेवकास्तादृशा यदी'' तिपद्योक्ता श्रीर्निरूपितोभयत्र। विशुद्धा मथुरेति मथुराया विशुद्धत्वं तु ''मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः'' इति भगवत्सान्निध्यात्। तत्रापि श्रीयमुनातटसत्त्वेन लीलास्थानत्वम्। तेन ''ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात्स्वभावविजयो यदी'' त्यत्रोक्तं ज्ञानं निरूपितम्। सकलेतीतिविशेषणेन गोपाश्च गोप्यश्च सततं गृहादिकं त्यक्त्वा एतत्तट एव तिष्ठन्ति, पूर्वं तत्रैवानन्दस्यानुभूतत्वात्। यद्वा, सकलगोपगोपीभिरन्तस्थैर्वृता – आवृता। यद्वा, सकलगोपगोपीभिर्वृता भगवतो याचिता सम्भक्ता वा। सा च भक्तानां सर्वात्मभावदानेन मानादिदोषनिवारकत्वेन च प्रभोः प्रीतिवर्द्धिनी, तेन ''हरेश्वरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात्''। ''उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदि'' इत्यत्रोक्तं वैराग्यं निरूपितम्। एवं षड्भिर्विशेषणैर्धर्मान्निरूप धर्मिस्वरूपं निरूपयन्ति कृपाजलधिसंश्रितेति। यद्यपि भगवतः सर्वे धर्मा नित्याः, तथापि कार्ये प्रकटा भवन्ति। करुणा तु नित्यमेव प्रकटा। तेन तज्जलधिरूपो भगवान्। अस्मिन् सम्यङ्मुख्यस्वामिनीवत्। श्रिता मिलिता तेन, षड्गणैश्वर्य्ययुक्तभगवति

विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते।
कृपाजलधिसंश्रिते मम मनस्सुखं भावय।।४।।
यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका।

एव प्रभुप्राकट्यात्तथा। विशुद्धा मथुरा तटे यस्याः। सा निकटे वा यस्य। निरवधिकृपायुक्तो हरिस्तस्मिन्। अन्या नदी लौकिकं जलधिं सङ्गता भवति। इयं तु तादृशं श्रीव्रजेशं संश्रिता। एतेन त्वत्सङ्गतो भगवत्सङ्गतो भवतीति भावः सूचितः।।४।।

अथ भगवदीयानामप्युत्कर्षाधायिका या तदुत्कर्षं को वक्तुं शक्त इति भावेनाऽऽहुर्ययेति। चरणपद्मजा गङ्गा। तेन भक्तिमार्गीया।

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

मिलिता यास्ते सर्वेपि गुणा द्योतिताः। एतेन धर्मिरूपत्वमस्या निरूपितम्। प्रभुपक्षे चत्वारि तु स्फुटानि एव। विशुद्धा मथुरा तटे निकटे यस्य, तत्र निरन्तरं सान्निध्यात्। सकलेति स्फुटम्। कृपेति कृपा एव जलधिः, तेन संश्रितो मिलितः, अपारकृपायुक्त इति भावः। यथा समुद्रगामिन्यां नद्यां पतितं तृणादिकं स्वत एव समुद्रे प्रपतति तथा अपारकरुणायुते कृष्णे मिलितायां यमुनायामाश्रिता अपि एतद्वेगेनैव तत्र गमिष्यन्तीति भावः। ममेति। प्रभुपक्षे सम्बोधनान्तं श्रीयमुने इत्यध्याहृत्य योजनीयम्। एतादृग्धर्मवति। हरौ मम मनः सुखं यथा स्यात्तथोपायं कुरु। श्रीयमुनापक्षे भो एतादृग्धर्मवति! मम मनसि यत्सुखं तत्त्वं भावय स्वमनस्यानय। त्वया मनस्यानीते मम सुखानुभवो भविष्यति नत्वन्यथा। भगवताष्टविधैश्वर्यस्य त्वयि स्थापितत्वात्। अस्मिन् पद्ये भगवत्समानधर्मवत्त्वेपि अनायासेन भगवत्सम्बन्धसम्पाकत्वं चतुर्थमैश्वर्यं प्रदर्शितम्। अन्वयस्तु पक्षद्वयेप्युक्त एव ।।४ ।।

अथेत्यर्थान्तरारम्भे। चतुर्भिः पदैरुत्कर्षवर्णनद्वारा संस्तुत्य चतुर्भिरुत्कर्षवर्णनस्याशक्यत्वं निरूपयन्तः संस्तुवन्ति ययेति।

भगवदीयानामिति बहुवचनेन लक्ष्मीगङ्गासरस्वतीतुलस्यो ज्ञेयाः। तत्र लक्ष्मीः पद्मजा, गङ्गाचरणपद्मजा तथा तुलस्यपि, सरस्वती मुखपद्मजा। भगवदीयाः सर्वत उत्कृष्टाः, महाराजसेवकवत्, तेष्वप्युत्कर्ष एतयाऽऽधीयते, "स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः इति वाक्यतः सर्वासामुत्कर्षः श्रीयमुनाकृतः। अत एतदुत्कर्षवर्णनस्याशक्यत्वं

समागमनतो भवत्सकलसिद्धिदा सेवताम्।

तया सदृशतामियात्कमलजा सपत्नीव य–

निर्दोषपूर्णगुणाऽपि यया त्वया सह समागमनतो मिलनतो हरेस्तथा अभवत्। सेवतां च तथा। पूर्वं गङ्गायाः अन्यसङ्गतिजनितम् उत्कर्षम् उक्त्वा [1]भगवत्सङ्गतिजनितः उत्कर्षः पठितः ''सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी'' त्यादिरूपः। एतादृश्या त्वया सह सदृशतां किं कापि इयाद् इति

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

युक्तमेव। तेनेति चरणपद्मजात्वेन, ''कारणगुणाः कार्यगुणानां समारम्भका'' इति न्यायाद्भगवच्चरणतुल्यगुणवत्यपि। तथाभवदिति, प्रियत्वं भावयक्त्यभवत्। सेवतामिति त्वया मिलितायाः सेवनं कुर्वताम्। तथेति। पूर्वोक्तसकलसिद्धिदा अभवत्। सह कलाभिर्वर्तते सकलः पुरुषोत्तमस्तस्य सिद्धिः प्राप्तिस्तस्या दात्री मूले सेवतामित्यत्र चक्षिङोङित्करणादनुदात्तत्वप्रयुक्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वाच्छतृप्रत्ययो बोध्यः। पूर्वमिति पुराणेषु। अन्येपि सरस्वतीसमागमनज उत्कर्षः। अत्र केचित्कमलजासपत्नीव यदिति प्रिये इति वा पठन्ति, तत्र मूलं मृग्यम्, एतादृश्येति। स्वसम्बन्धेन स्वसमानगुणसम्पादनकर्त्र्या। तत्रापीति पत्नीत्वेपि। त्वं तु प्रिया इति तथा सम्बोधनम्। एव यदिति पाठे, लक्ष्मीर्भवत्याः सपत्नी इव। त्वद्वत्पुष्टिमार्गीयलीलास्थभक्तानुगुणत्वसम्पा

दिकात्वाभावात्। त्वं तु सर्वदुःखहर्त्तुर्भगवतः प्रियाणां कलेः खण्डनकर्त्रीति महद्वैलक्षण्यम्। तेन न कापि त्वत्सदृशीति भावः सूचितः। यतस्त्वं भक्तानुगुणा अतः प्रार्थ्यते। मम मनसि सदा स्थितिं कुरु, मनसि म इति मूले। मनसि त्वयि स्थितौ मनसः शुद्धत्वं सेत्स्यति। तस्मिन्सति सकलेन्द्रियाणां निर्दुष्टत्वमेव। अतश्चैकादशे भिक्षुगीतायां ''मनः परं कारणमामनन्ती''ति। ''मनोवशेन्ये ह्यभवं स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति। भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः''। श्रुतिरपि तृतीयाष्टकब्राह्मणेऽन्तिमे प्रश्ने नवमानुवाके ''मनसो वशे सर्वमिदं बभूव। नान्यस्य मनो वशमन्वियाय, भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् स नो जुषाण उपयज्ञमागात्''। आकूतीनामाधेपतिं चेतसां च समल्पजूतिं देवं विपश्चितम्, मनो राजानमिह वर्द्धयन्तः। उपहवेस्य सुमतौ स्याम। स्मृतिश्च, ''मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति'' ''असंशयं महाबाहो मनो दुर्निगअहं चलमि'ति एतादृशि मनसि निर्दोषपूर्ण

---

१ भगवतीसङ्गति पाठः।

हरिप्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम्।।५।।

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं।

न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः।।

काकूक्तिः। यदि इयात् कमलजा इयात्। तत्र हेतुमाहुर्यद्यस्मात्सा भगवत्पत्नीत्वात्सपत्नी भवति। [1]तत्रापि भवती प्रियेति-इवेति। भक्तानुगुणत्वमाहुर्हरिप्रियाणां कलिं (दोषं) द्यति खण्डयति।।५।।

एतादृश्यां त्वयि नमनातिरिक्तं न वक्तुं शक्यमित्याशयेनाऽऽहुन-

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

गुणवत्यास्तवानवरतस्थितौ मनसो भावाधिष्ठानत्वाद्भावस्यापि तथात्वं भविष्यति। तस्मिंस्तथा सति चैकादशस्कन्धीयद्वादशाध्यायोक्तरीत्या गोपिकावल्लीलाप्रवेशः सुकरः। मूलान्वयस्तु।, हे प्रिये! यया समागमनतश्चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियं भावुका अभवत्, सेवतां सकलसिद्धिदा च अभवत्, तया सदृशतामियात् कमलजा यत्सपत्नी, अस्तीति शेषः। एतादृश्या हरिप्रियकालिन्दया मे मनसि सदा स्थीयताम्। अस्मिन्पद्ये भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वं पञ्चमं ऐश्वर्यमुक्तम्।।५।।

एवमुत्कर्षवर्णनस्य सर्वेश्वरप्रियाज्ञाननिरूपणद्वारा अशक्यत्वं निरूप्य भगवदीयोत्कर्षसम्पादनकर्त्र्याः स्तुतेरशक्यत्वं निरूपयन्तोऽग्रिममवतारयन्ति एतादृश्यामिति।

भगवत्प्रियकलिनिवारणकर्त्र्या नमनातिरिक्तं सेवनादिकं कर्त्तुं सुतरामशक्यम्। परं नमनमपि दुर्ल्लभमतः प्रार्थनमित्यत आहुः त्वयीति। मूले अत्यद्भुतमिति। अत्रैवं ज्ञेयम्, भगवांस्त्वद्भुतकर्मा, प्रमेयबलेन असाधनं यत्कामादिकं तत्साधनमिव कृत्वा स्वीयानुद्धरति। तदुक्तं सप्तमस्कन्धे, "गोप्यः कामादि" त्यादिना। त्वं तु अत्यद्भुतचरित्रवती। अद्भुतत्वमेवाग्रे उपपादितम्। यत्सर्वान्जीवान् भावरहितान् साधनैः कामादिरहितान्। जिह्वोपस्थपरायणान् अनन्तिमजन्मसम्भूतान् त्वद्रूपज्ञानेन सुतरां शून्यानपि पिपासाहेतुकपयः पानेनैव भगवत्प्रियान्करोषि। न भावमप्यपेक्षसे। एतदेवाहुः न जात्विति। जातु कदाचिदपि यमयातना न भवति। यद्यपि भगवन्नामतो यमयातनाऽभावो भवति, तथापि गुरुषु मन्तुषु सत्सु भवत्यपि। प्रकृते तु मन्तुषु सत्स्वपि नेति महद्वैलक्षण्यम्। अत्र लौकिकीमुपपत्तिमाहुः यमोऽपीति। अत्रैवं ज्ञेयम्, यम-

---

१ तत्रापि प्रियोति वेतीति पाठः ।

यमोऽपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति दुष्टानपि।

प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिका:।।६।।

ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता।

मोऽस्त्विति। त्वयि नमनमपि दुर्लभमत: प्रार्थ्यते अस्त्विति। अद्भुतत्वमेवाऽग्रे उपपादितम्।।६।।

अत: परं श्रीगोकुलनाथचरणानां विवृति:।

आवश्यकदैहिकधर्मेऽपि त्वत्सम्बन्धे मुक्त्यधिकभक्तिप्राप्तिर्यत्र, तत्र

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

क्रौर्यभिया जनानवता दिवाकरेण तत्तापनाशनायेयं प्रकटीकृताऽतस्तथा। जीवाश्च ये तत्पय:पानं कुर्वन्ति, तेषामेतत्सुतत्वं भवति। तथा च, यमोति स्वानुजाया माननीयाया: सुतान्कथं हन्ति? तद्धिंसां तर्कितुमपि नेष्टेऽत उक्तम् उ इति। यद्यपि ते दुष्टास्तथापि स तु स्नेहवशात् स्वस्यापवादभयादतिशुद्धत्वाच्च तेषां नैवापकारं करोति। प्रत्युतोपकारमेव करोतीति भाव:। एवं चरित्रस्य केवलपिपासाहेतुकपय: पानेन यमयातनाऽभावसम्पादनद्वाराऽत्यद्भुतत्वमुक्त्वाऽत्युत्कृष्टफलस्य श्रीगोपीजनवल्लभप्रियत्वस्य प्रापकत्वेन तस्य ततात्वमाहु: प्रिय इति मूले। श्रीकृष्णहार्दविदस्तव सेवनाच्चेतसस्त्वयि प्रवणात्तत्स्मर्तृणां सकलदु:खहर्त्तु: प्रीतिविषयो भवति। एतदेव दृष्टान्तेन विशदयन्ति यथेति। फलप्रकरणीयद्वितीयाध्याये "यथान्तर्हिते प्रभौ सर्वलीलानुकरणं कृतवक्त्यो व्रजवरवध्वोप्येतत्पुलिनमागत्य भगवद्भावनया गानं कुर्वक्त्य: श्रुतय इव मनोरथान्तं लेभिरे" यथा च, व्रतचर्यायामेतत्सेवनं कुर्वक्त्यो "मयेमा रंस्यथे" त्यादिरूपं फलं प्रापुस्तथाऽयमपि भवति। चतुर्विधा अपि गोप्यो यथा प्रीतिसुखभाजो जातास्तथाऽयमपीति ज्ञापनाय बहुवचनम्। दृश्यते हि लोकेषि देहिनां ज्ञानकर्मभक्तिभ्यो भगवति प्रीति:, त्वत्सेवनात्तु निर्दोषपूर्णगुणविग्रहस्य सच्चिदानन्दस्य सदोषेषु जीवेषु प्रीतिरतस्तव चरित्रस्यात्यद्भुतत्वे किमु वाच्यम्। एवं चास्मिन्पद्ये भगवदीयोत्कर्षाधायकत्वं षष्ठमैश्वर्यं निरूपितम्। पदयोजना तु हे यमुने! तुभ्यं नमोस्तु, यत्तव चरित्रमत्यद्भुतम्, किं तत्, ते पय:पानतो जातु यमयातना न भवति, यमोपि दुष्टानपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति! तव सेवनाद्गोपिका यथा तथा हरे: प्रियो भवति।।६।।

एवं भगवदीयानां सेवतां गोपिकावद् भगवत्प्रियत्वरूपस्योत्कर्षस्य सम्पा

न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये।।

का शङ्का यमयातनाभाव इत्याहुर्ममाऽस्त्विति। तव सन्निधौ तनोर्नवत्वं लीलोपयोगिनूतनदेहसम्पत्तिरस्तु। एतेन पूर्वदेहनिवृत्तिः सूचिता। इदमपि त्वत्कृतमेव भवति न त्वन्यथेति ज्ञापनाय प्रार्थनमस्त्विति। एतावता

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

दनकर्त्र्याः स्तुतेरप्यत्यद्भततमत्वेनाशक्यत्वं निरूप्याऽऽवरणानाच्छन्नभगवत्सेवोपयोगिदेहसम्पादनकर्त्र्याः स्तुतेरशक्यत्व निरूपयन्तोऽग्रिममवतारयन्ति आवश्यक इति। अतःपरं प्रभुचरणाज्ञप्तानां श्रीगोकुलनाथानां लेखः। अवश्यं भव आवश्यकः, स चासौ देहे भवश्च, स चासौ धर्मश्च तथा ''देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुरि''तिदशमस्कन्धीयप्रथमाध्यायोक्तरीतिकस्तस्मिन्नपि सुरतश्रमजलजया त्वया सम्बन्धे सति ''मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमि'' त्युक्तरीतिकभक्तिलाभो यत्र, तत्रत्यानां तथाभवने कः सन्देह इति कैमुतिकन्यायेन तया यथा कथञ्चिद्देशिकेपि सम्बन्धेपि श्रीकृष्णे रतिः सुलभेति सूचितम्। अत एव नित्यलीलास्थानावृतवस्तुदर्शना

द्यर्थं प्रार्थ्यते तवेति। पूर्वाक्तधर्मवत्यास्तव सन्निधौ सेवासमये पश्यन्ति, ''ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ती''तितृतीयस्कन्धोक्तप्रकारकनित्यलीलास्था

नां समीपे योगः संयोगसम्बन्धो विद्यते यस्य यस्मिन्वैतादृशो नूतनतनोर्लाभोऽस्तु। ननु तनोर्नवत्वे प्रार्थिते एतद्देहावसाने यथाऽन्यसेवया फलं भवति तथैवात्रेति श्रीयमुनायाः सेवायां को वा विशेष इत्याशमय प्रकारभेदं वक्तुं तत्समाधानमाहुः एतेनेति। तनोर्नवत्वप्रार्थनेन पूर्वशरीरस्य लीलानुपयोगिदेहस्य निवृत्तिर्नितरां वर्त्तनम्। सत्ता सूचिता न तु नाशः। अन्यथा नवतनुवत्त्वं प्रार्थितं स्यात्। वक्ष्यमाणं एतावता शरीरपरिवर्तनमात्रेणे'ति व्याख्यानं चानुपन्नं स्यात्। तेन यथा घटस्यामदशायां जलादिधारणसामर्थ्यं न। पुनः पाकदशायां सर्वसाधारणसामर्थ्यं मृत्त्वनिवृत्तिश्च। तथैवात्र लीलास्थजीवानां पुष्टिमार्गे स्थितानां श्रीयमुनासम्बन्धादर्वाक् आमघटवद्भगवल्लीलादर्शनादि सामर्थ्यं नास्ति। श्रीयमुनासम्बन्धे तु कृपया तनुनवत्वे जाते पक्वघटल्लीलादर्शनानुभवादिविषयकं सामर्थ्यमुत्पद्यते। शरीरे लौकिकत्वनिवृत्तिश्चेति दिक्। मूलस्थास्यास्त्विति पदस्य तात्पर्यमाहुरिदमिति। हीनमध्यमानामपि उत्तमाधिकार्य्युपयुक्तालौकिकसामर्थ्यरूपफलसम्पादनकर्त्र्यास्तव कृपैव दुर्ल्लभा, तस्यां तु सत्यां न किमपि दुर्ल्लभतममिति वदन्नाहुरेतावतेति। ननु कदाचित्प्रारब्धदोषवशाद्भगवदीयानामपराधे जाते तज्जनिते भगवत्कृते प्रतिबन्धे चोद्भूते

अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्।

शरीरपरिवर्त्तमात्रेणैव मुररिपौ रतिर्दुर्लभतमा न भवतीत्यर्थ:। किन्तु तनुनवत्वेन सुलभैव। कदाचित्प्रतिबन्धके विद्यमानेऽपि यथा जलदोषरूपमुरस्य निवारकस्तथा त्वत्सम्बन्धात्सर्वदोषनिवारकत्वं मुररिपुपदेनोक्तम्। अत: कारणाद्यावदाधुनिकशरीरनिवृत्तिस्तावत्तव लालना स्तुतिरूपा अस्तु।

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

तस्याप्रतीकार्यत्वात्कथं रतिर्दुल्लभता नेत्याशमय मुररिपुपदस्याशयं ब्रुवन्तस्तत्समाधानमाहु: कदाचिदिते। कस्मिन्नपि काले भगवदीयानामपराधे जाते तेन च भक्त्युत्पत्तिविषयके भगवत्कृते प्रतिबन्धे जातेऽपि राजकन्यावत् सर्वदोषान् कायवायनोजान् क्षाधिदैविकादीन् कालजन्यदेहावस्थान्तरकृतान् भूतभविष्यद्वर्त्तमानान् निवार्य्य स्वकीयान् करिष्यतीति त्वकृपायां सत्यां न किमपि दुर्ल्लुभमिति सुष्ठूदितम्। ननु श्रीयमुनाकृषया भगवत्कृतप्रतिबन्धापगमे किं गमकमित्याशमय मुकुन्दप्रिय इति सम्बोधनेन मूले मुररिपाविति समादधते। मुकुन्दप्रिय इति मुकं मोक्षं ददातीति तथा। तत्प्रियात्वेन तत्समानशीलव्यसनवतीयमिति मोक्षदाने समर्था, अत एतत्कृपया तदगमने किञ्चित्रम्। अन्यथा मुकुन्दप्रियात्वं गच्छेत्। मोक्षस्वरूपं तु, पद्मपुराणे, ‘‘विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण’’ इति। श्रीभागवतेपि, ‘‘भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था:’’। यद्वा, ‘‘यतोपराधस्तत एव मुक्तिरि’’ति नियमाद्भक्तद्रोहे जाते तत्सेवनादेव तन्निवृत्ति:। अन्यथाम्बरीषोपाख्याने ‘‘क्षमापय महाभाग तत: शान्तिर्भविष्यती’’ त्युक्तमनुपन्नं स्यात्। तथा च सर्वभक्तशिरोमणे: श्रीयमुनाया: सेवनादेतत्प्रसन्नतया ‘‘यथा तरोर्मूलनिषेचनेने’’ तिवत्सर्वभक्तप्रसन्नतायां भगवत्कृतप्रतिबन्धापगम इति नानुपत्ति: काचित्। एवं च विवेकधैर्याश्रयसेवाफलग्रन्थयोर्वक्ष्यमाणो ‘‘भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते। अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिरि’’ति, ‘‘पुष्टौ नैव विलम्बयेति’’ति च भगवत्कृतप्रतिबन्दापगमने य: प्रकार: स एवात्र मुकुन्दप्रियापदेन सूचित इति दिग्। उत्तरार्द्धमवतारयन्ति अत इति। यत: शरीरनिवृत्तिकृन्मुकुन्दप्रियत्वसम्पादनकुच्छ्रीयमुनाकृपया सर्वसौलभ्यमतो हेतोर्यावता कालेन इदानीं स्थितस्य अलौकिकसामर्थ्यशून्यस्य देहस्य निवृत्ति: परिवर्त्तनं तावत्कालं तव पूर्वोक्तधर्मवत्या लालना प्रेमविवशतया

तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः।।७।।

साऽपि त्वत्कृपयैव नाऽन्यथेति प्रार्थ्यतेऽस्त्विति। गङ्गाया अपि फलसाधकत्वं त्वत्सम्बन्धादेवेत्यत आहुः सुरधुनी तव सङ्गमात् परं अत्यर्थं भूवि कीर्तिता स्तुतेत्यर्थः, न तु कदापि त्वद्रहिताऽपीत्यर्थः। ननु क्वचित्पुराणादौ केवलाया अपि स्तुतिर्दृश्यत इति स्तुतौ विशेषमाहुः पुष्टिस्थितैरिति। मर्यादामार्गीयैः केवलाऽपि स्तूयते त्वत्स्वरूपाज्ञानात्। पुष्टिमार्गीयास्तु त्वत्स्वरूपं जानन्तीति त्वत्सम्बन्धादेव स्तुवन्तीत्याहुः पुष्टिस्थितैरिति।।७।।

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

गुणगणकथनं सा स्तुतिरूपा भवतु। अस्तुपदस्य तात्पर्यमाहुः सापीति। लालनापि भगवत्कृतप्रतिबन्धेपि रक्षिकायास्तव कृपया सामर्थ्यभावेनैव सम्पत्स्यते, नान्यथा। इतरथा "तदान्यसेवापि व्यर्थे" तिसेवाफलविवृतौ वीक्ष्यमाणमनुपन्नं स्यात्। एतत्सेवा तु भक्तसेवैवेति स्फुटमुक्तम्, तव सर्वभक्तमूलत्वात्। ननु गङ्गाया यद्यपि "सन्निवेश्य मनो यस्मिञ्च्छुद्धं यामुनयोमलाः। त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मतामि"त्यादिरूपं यस्यां स्नानार्थं पानार्थं वा गच्छतः पुंसः पदे पदेश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्ल्लभमि'त्यादिरूपं च फलदात्रीत्वं श्रूयते, तथापि, यथादिकारमलौकिकसामर्थ्यादिफलसाधकत्वं स्मरश्रमजलजायास्तव सम्मिलनादेवेत्यत आहुः गङ्गाया इति। सुरधुनीति। धुञ्कम्पने। धुनोति तीरस्थवीरुधो द्रुमानिति धुनी। क्विप्तेति क्विप्। पृषोदरादित्वान्नुक्। नान्तरवाङीप्। सुराणां धुनी, देवलोकनदीति, कौ तु त्वत्सगमादेव स्तुता। लोके कथादिषु माहात्म्येषु च "गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे, सर्वत्र दुर्ल्लभा गङ्गे'त्यादिवचनेषु श्रीयमुनासम्मिलनात्पूर्वमपि श्रीहरिद्वारकनखलक्षेत्रादषु च मुक्तिदात्रीत्वं श्रूयते, तदाक्षिपन्नाहुः नन्विति। विशेषमिति, अधिकारिभेदेन किञ्चित्प्रकारे नानात्वम् पुष्टीति व्याकुर्वन्ति। मर्यादेति। वेदोपनिषत्पुराणादिश्रवणेन यथार्थभगवन्माहात्म्यज्ञानम्, तस्मिन्सति तत्रोक्तसाधनानुष्ठानं तेन च स्वरूपज्ञानम्, तस्मिन्सति मुक्तिरिति मर्यादामार्गः। निजजनानुद्दिधीर्षुर्भगवान्दयया निस्साधनान् अनुगृह्य लीलासृष्टौ प्रवेशयतीति पुष्टिमार्गः। एवं च मर्यादामार्गीयाणां शास्त्रश्रवणैकहेतुकज्ञानवत्त्वम्। तत्र च सृष्टिस्थित्यर्थं तदिच्छयैव तत्स्वरूपं गूढरीत्योक्तम्। तथा च श्रुतिः। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्द ब्राह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चने"ति। अत्र वागगोचरस्तुतिकस्य मनोध्यानाविषयस्य ब्रह्मण आनन्दविदुषोऽकुतोभयवत्त्वमुच्यते,

स्तुतिं तव करोति क: कमलजासपत्नि प्रिये।

यत्र त्वत्सम्बन्धात्सर्ववन्द्यगङ्गास्तुतिस्तत्र त्वत्स्तुतौको वा समर्थ इत्याहु: स्तुतिं तवेति। अशक्यस्तुतित्वे हेतुमाहु: कमलजासपत्नि इति। सर्वत्र स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात्। स सर्वत्र लक्ष्म्यपेक्षया न्यून एव। त्वन्तु तस्या अपि सपत्नी तत्समानसौभाग्यवती। ननु लक्ष्मीस्तुतिस्तु लोके

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

तेन तदानन्दविद्रुत्त्वं तदिच्छयैवेति भासतेऽन्यथा वाङ्मनोऽगोचरत्वमनुपन्नं स्यात्। एवं च पुष्टिस्थानां त्विच्छयैव सर्वलीलाविशिष्टस्वरूपज्ञानं भगवान्हृदि निधत्त इति ते श्रीयमुनाया: सर्वाङ्गीणश्रमकमलजाया: स्वरूपं जानन्ति। इतरेषां तु ''द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिष्वि'' त्यादिप्रभुदत्ताज्ञाकरुद्रादिकलाभिर्ब्रह्मणादिभिर्भ्रान्तत्वान्न तेषां भगवत्स्वरूपज्ञानम्, कृत: श्रीयमुनापर्यन्तमिति ते स्तुतिं केवलगङ्गाया इति मन्यन्तेऽदीर्घदृक्त्वात्। पुष्टिस्थास्तु पुराणादौ या स्तुति: केवला या दृश्यते सापि त्वत्सम्बन्धादेवेति यथायथं त्वस्वरूपज्ञानात्। स्तुवन्ति। एतेषामेतन्माहात्म्यावगतेरित्येतदभिप्रेत्य मर्यादेत्यारभ्य पुष्टिस्थितैरित्यन्तमुक्तमिति। मूलान्वयस्तु, भो मुकुन्दप्रिये? तव सन्निधौ मम तनुनवत्वमस्तु, एतावता मुररिपौ रतिर्दुर्ल्लभतमा नास्तीति शेष:, यत एवं, अतस्तव लालनाऽस्तु, सुरधुनी पुष्टिस्थितै: त्वत्सङ्गमात्परं कीर्तिता, न तु कदापि त्वद्रहितापीति शेष:। एवं चास्मिन्पद्ये भगवति रतेर्दुर्ल्लभत्वकथनेन भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वसप्तममैश्वर्यं प्रोदितम्।।७।।

एवं भगवत्प्रियत्वसम्पादिकाया: स्तुतेरशक्यत्वं निरूप्य पूर्वश्लोके प्रार्थितस्य तनुनवत्वस्य प्रकारं तत्सम्पादिकात्वमशक्यस्तुतिकत्वे हेतुं च वदन्त: कैमुतिकन्यायेनाऽग्रिममवतारयन्ति यत्रेति।

लीलासृष्टौ सर्ववन्द्यत्रिविधजीवस्तुत्यगङ्गाया: स्तुति: उत्कर्षवर्णनं त्वसम्बन्धात्तत्र त्वदुत्कर्षकथने को वा समर्थ:? हेतुं स्फुटयन्तोऽवतारयन्ति अशक्येति। सर्वत्रेति, लोके वेदे च स्तवनीयत्वं पुरुषोत्तमसंयोगादेव। ''तेज: श्री: कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्याग: सौभगं भग:, वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र-यत्र स मेंऽशक इति, ''यद्यद्विभूतिमदि''ति वाक्येन च निश्चितम्। स पुरुषोत्तमसम्बन्ध: सर्वत्र आब्रह्मस्थावरादिषु लक्ष्म्यपेक्षया अल्प:, तस्यास्तद्वक्षसि स्थितत्वात्। न हीतरस्तत्र क्षणमपि स्थाप्यतेऽत एवं सर्वेषां लक्ष्मीतो न्यूनतां स्फुटीकृत्य श्रीयमुनायास्तत आधिक्यं स्फूटयन्ति त्वन्त्विति। लक्ष्म्या एकपतिकेति तत्सदृक्सौभाग्ययुता। व्रजे चतस्र: स्वामिन्यस्ता व्रजलीलायामेव सर्वसुखानुभवं कुर्वन्ति। अन्यत्र लीलायां तु तासां

हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः।।

दृश्यते। तर्हि तत्साम्यं चेत्कथं स्तुतिरशक्येत्याहुः प्रिये इति। साम्यमात्रे कर्त्तुं शक्यत एव। अत्र तु ततोऽप्यधिकं प्रियत्वमस्तीति स्तुतिकरणमशक्यम्।

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

विप्रयोगानुभव एव। लक्ष्मीस्तु व्रजरत्नानां क्रीडावकाशे सुखानुभवं करोति। तदुक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैः सुबोधिन्याम्, "तासामाविरभूदि" त्यस्य व्याख्यावसरे। तथा हि, "अथवा, व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्म्या सह रमणं कृत्वा तेनैव रूपेण प्रादुर्भूतः। स्रग्वी वनमालायुक्तश्च, मध्ये ब्रह्मादिपूजां च गृहीतवान्, लक्ष्म्या वा, अतोविलम्ब" इत्यपि सूचितम्। अत एव प्रथमश्लोके पूर्वाध्याये "श्रयत इन्दिरे" त्युक्तमिति "जयति तेधिकमि"त्यस्य व्याख्यायां च "कदा ममावसरो भविष्यतीति निरन्तरं सेवते" इति। प्रकृतमनुसरामः। श्रीयमुना तु व्रजे तुर्यप्रियारूपेण रमते। द्वारिकायां च तथारूपेण। तत्रास्यास्तथात्वे गमकं कुरुक्षेत्रोपाख्याने द्रौपद्या पृष्टाभिर्वैदर्भीप्रभृतिभिर्यथाक्रमेणोत्तरं दत्तम्, तदेव। तथा हि, "रुक्मिणी[१] सत्यभामा[२] च जाम्बुवत्पुत्रिका[३] शुभा। कालिन्दी[४] मित्रविन्दा[५] च सत्या[६] भद्रा[७] च लक्ष्मणा[८]। महिष्यश्च समाचख्युः स्वां–स्वां वैवाहिकीं कथाम्"। अस्यास्तत्रापि ताभ्य आधिक्यं स्कान्दे श्रीभागवतमाहात्म्ये स्फुटतरमिति ततोवगन्तव्यम्। एवं श्रीयमुनेतरस्वामिनीनामेकैकस्मिन्नवसरे रमणम्। श्रीयमुनायास्तु स्वामिनीत्वेपि लक्ष्मीसमानसौभाग्यवतीत्वमित्यपि शब्दार्थः। ननु लक्ष्मीवत्तथात्वे एतस्या अपि स्तुतिस्तद्वच्छक्या भविष्यतीति पाक्षिकं दोषं परिहरन्क्षिपन्ति नन्विति।

लोके दृश्यते शास्त्रादिद्वारा तत्साम्यं लक्ष्मीतुल्यत्वम्। तस्मिन्सति तद्वत्स्तुतिः शक्या भविष्यतीत्याशङ्क्य सम्बोध्यपदस्य तात्पर्यमाहुः प्रिय इतीति। व्याकुलर्वन्ति साम्येति। साम्यमेव साम्यमात्रं तस्मिन्नेव सति स्तोतुं शक्येतैव। अत्रेति श्रीयमुनायाम्। ततो लक्ष्म्याः अधिकम् अवतारानवतारदशासु अनवरतलीलासम्बन्धरूपं प्रियत्वं विद्यते। तथा हि, लक्ष्मीर्हि सर्वपत्नीभ्यो मुख्यात एव वक्षोनिवासकृतः। अन्यासां तदंशत्वेन तदधीनता, श्रीयमुनायास्तुतद्वत्सौभाग्यवत्त्वेन न तदंशत्वम्, प्रत्युत तत्सपत्नीत्वेन तद्विरुद्धस्वभावत्वमपीत्येतत्सर्वं प्रियत्वं विना न निर्वहतीति प्रियत्वमनुमीयते प्रमीयते च, प्रियत्वे सति लक्ष्मीत आधिक्यम्।

ननु कथं ज्ञायते लक्ष्म्यपेक्षयाऽऽधिक्यमस्तीति, तत्र हेतुमाहुर्हरेर्यदनुसेवयेति। हरेरनु पश्चाद्यस्याः सेवया मोक्षं मर्यादीकृत्य सुखं भवति। मोक्षप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः। न तु ततोऽप्यधिकं भजनानन्दाख्यं सुखं भवति। तदपि भगवत्सहिततद्भजनेन न तु केवलायाः, केवलाया मोक्षविघातकत्वात्। अनुशब्दान्मुख्यतया भगवद्भजनम्। तदनुगुणत्वेन लक्ष्म्याः। कालिन्द्युत्कर्षमाहुरियं-

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

तथा हि, ''नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना, श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मण्येषां गतिरहम्परा''। यत्र मर्यादामार्गीयभक्तेष्वप्येतादशी प्रतिज्ञा, तत्रानुग्रहमार्गे सकलभक्तशिरोमणेः। श्रीयमुनायाः प्रियत्वे किमुवाच्यमिति तत्करणमशक्यमित्युक्तम्। एवमनुमानप्रमाणाभ्यामाधिक्यं निश्चित्य प्रमेयसाधनफलैरप्याधिक्यं वक्तुं पुनराशमते नन्विति। तत्र प्रमेयतः आधिक्ये ''प्रमेयं हरिरेवैक'' इति निबन्धोक्तेः प्रमेयं भगवान्, साधनं च सेवा, ''तत्सिद्ध्यैतनुवित्तेजेति वक्ष्यामाणात्। एवं च प्रमेयस्य सेवानन्तरं लक्ष्म्याः सेवया साधनभूतया तत्तोषे मोक्षं पुरुषोत्तमानुचरत्वम्। आमर्यादीकृत्य ततोऽर्वाक् ''सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना'' इत्यादिरूपम्, भगवदीयानामनिच्छाविषयं सुखं यच्छतिसा। मोक्षेति सगुणमोक्षलाभ इतिभावः। भजनानन्दस्या''दिभूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया'' इति तत्त्वदीपे पुरुषोत्तमसेवैकलभ्यत्ववदनादित्यत उक्तं न तु तत इति। हरेरित्यनेनान्यप्रमेयसापेक्षतया सेवयेत्यनेन साधनपेक्षया आमोक्षत इत्यनेन फलस्य तुच्छत्वेन ततः श्रीयमुनाया प्रमेयसाधनफलैरुत्कर्षः सूच्यते। तत्सपत्नीत्वेन तद्विरुद्धस्वभाववतीतया। हरेरिति संयोगसम्बन्धे षष्ठी, तत्तात्पर्यमाहुः तदपीति सगुणमोक्षमपि। तथा च, लक्ष्म्याः रूपद्वयम्। एकं भगवता सह स्थितम्, सालोक्यादिप्रदम्। अपरं भेदेन स्थितं केवलं विभूतिरूपम्। भजनेन धनादिसम्पत्प्रदम्। तस्या ''अधनोयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्। इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरिनाददात्'' १०।८१।२० इत्यादिवाक्यैः भगवत्स्मरणविस्मारकत्वेनासुरावेशहेतुत्वात्संसारासक्तिसम्पादनद्वारा तथात्वम्, इति केवलं तद्भजनं निषेध्य तत्साकं तद्भजनमाहुरन्विति। एवं प्रमाणप्रमेयसाधनफलस्वभावैर्लक्ष्म्याः श्रीयमुनातो न्यूनत्वमुक्त्वा श्रीयमुनायास्तनुनवत्वसम्पादने प्रकारं वदन्तः श्रीयमुनायाः प्रमाणादिभ्य उत्कर्षं कथयन्त उत्तरार्द्धमवतारयन्ति कालिन्द्यु-

इयं तव कथाऽधिका सकलगोपिकासङ्गम।

तव कथेति। इयमग्रत उच्यमाना तव कथाऽपि सर्वमुक्त्यपेक्षयाऽधिका। अतएव एतत्कथारसिकानां न मोक्षेच्छागन्धोऽपि। तदेव उक्तं पञ्चमस्कन्धे "अथ ह वा व तव महिमामृतसमुद्रविप्रषा सकृल्लीढया विस्मारितदृष्टश्रुत सुखलेशाभासा: परमभागवता एकान्तिन:" इति। सा का इति आकांक्षायाम् आहु: सकलगोपिकेति। सकलगोपिकासङ्गमेन स्मरसम्बन्धी य: श्रमस्तेन जनिता ये स्वेदजलाणव: सकलगात्रजास्तै: सङ्गमो यस्या:। एते जलाणवो न श्रम स्वेदरूपा: किन्तु विविधसङ्गमरसस्य सर्वावयवपूर्णस्याऽत्युच्छलनेन बहि

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

त्कर्षमिति। कलिन्दस्येयं कालिन्दी, अस्या उदधिकं कर्षणं तनुनवत्वसम्पादनेन लीलासृष्टिप्रवेशनम्। कथामुखेनाहु: इयमग्रत इति। सर्वेति सालोक्यादितदपेक्षया अधिका उत्कृष्टा। वैकुण्ठस्थितस्य भगवत एकस्मिन्ववक्षस्थलरूपगात्रस्थितायास्तस्या:कथाया: सकलाङ्गसम्बन्धिन्या: श्रीयमुनाया: कथा अधिका, अतस्तत एतत्कथारसनिमग्नानां न सालोक्यादिमुक्तीच्छालेशोपि। तदेवेति कथारसपूर्णानामन्यविस्मरणमेव। वृत्रपीडितदेवताभिर्नवमाध्याये षष्ठस्कन्धस्य कृष्णस्तुतावुक्तम्। एवं रसिकानामितरविस्मृतिं प्रमाण्य श्रीयमुनाया: कथां विशदयितुमवतारयन्ति सा केतीति। कलाभि: सहित: सकल: पुरुषोत्तमस्तस्य गोपिकाभि: सम्यग्गमनं, तदुक्तं ताभिर्युता: सकलाश्चतुर्विधा अपि गोपिका तासां य: सङ्गम: तद्धेतुको य; स्मर: काम: तज्जन्यो य: श्रमस्तेन करणभूतेन जनिता दृग्गोचरीकृता ये प्रस्वेदपय:कणा:, सकलतनूद्भवास्तै: सङ्गमो विविधभावभरेण, गमनं गम:। घञर्थेकविधानमितिक:। सम्यक्प्राप्तिर्लीलासृष्टौ यस्या: श्रीयमुनाया:। यद्वा, यस्या इति पञ्चमी। यस्या: सकाशात्सङ्गमोन्येषामेतत्सम्बन्धिनां तनुनवत्वे सम्पन्ने भवतीति श्रीयमुनाया आमघटस्य बह्निसङ्गमेन पक्वत्वमिव सकलगोपिकासङ्गमस्मरश्रमजलाणुसङ्गमेनैव तनुनवत्वं सम्पाद्यावरणानाच्छन्नभगवल्लीलासृष्टौ निजानां तदनुभवकरणसामर्थ्यसम्पादनमिति महदाधिक्यम्। ननु बिन्दवश्चेत् सङ्गमजास्तर्हि तत्सङ्गमेन कथं तनुनवत्वं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य बिन्दुस्वरूपं वर्णयन्ति एतेनेति, श्रीयमुना–

---

१ सर्वत्र मुक्त्य० पाठ:।

स्मर श्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमः।।८।।

रागतस्यैव बिन्दवो न तु केवलजलमात्रस्य। अत एवोक्तं सकलगात्रजैरिति। एभिर्विशेषणैः परमकाष्ठापन्नपुष्टिपुष्टिमार्गान्तरङ्गभक्तत्वं सर्वदैतद्रसपूर्णत्वमन्तरङ्गभक्तानुगुणत्वमेतल्लीलामध्यपातित्वादिकं सूचितम्। स्वस्यैतद्रसपूर्णत्वेन केवलैतद्भजनकर्त्तुरप्येतद्रसं ददातीति स्पष्टमेव वैलक्षण्यम्।।८।।

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

यास्तत्समकथनेन, तनुनवसम्पादनमभिप्रेत्य कथनेन, च। अत एवेति। यदि श्रमस्वेदरूपाः स्युस्तर्हि सकलगात्रजा न भवेयुः। केशनखादिषु स्वेदस्यानुपलब्धेः। तेन रसरूपा एवेतिभावः। एभिरिति, सकलगोपिकासङ्गम इत्यनेन पुष्टिपुष्टिमार्गान्तरङ्गभक्तत्वे, स्मरश्रमजलाणुभिरनेन सर्वदैतद्रसपूर्णत्वम्, सकलगात्रजैरनेन भक्तानुगुणत्वम्, सङ्गम इत्यनेन लीलामध्यपातित्वम्, चादिपदेन तत्समानसौभाग्यवतीत्वेन तद्विरुद्धस्वभावात्। यथा रजोगुणप्रधाना सा (लक्ष्मीः) जीवान्मदेन केवलभजनकर्तॄन् भगवद्विमुखान्कृत्वा स्वर्गादिलोभेन प्रवाहमार्गे निपातयति, न तथेयमिति तत्सपत्नीत्वात्। दृश्यते हि परस्परं विरुद्धस्वभाववत्यः सपत्क्यो लोके। एतदेव विशदयन्त आहुः स्वस्यैतदिति, यद्यपि, "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति भगवता प्रतिश्रुतम्, तथापि श्रीयमुनायां रसविवशेन भगवता स्वस्याष्टविधैश्वर्यस्य स्थापितत्वाच्छ्रीयमुनाया अनन्यभजनकर्त्तुस्तनुनवत्वं सम्पाद्य तद्रसदानमिति भावः। दृश्यते हि लोकेपि महाराज्ञां पूर्णाधिकारिणां विनाज्ञां, लघुकार्यस्याप्यकरणम्, अपूर्णाधिकारिणामप्याज्ञातो महत्कार्यसम्पादनम्, किं तत्राखिललोकनियन्तुर्भगवतः प्राणादपि प्रियायाः श्रीयमुनायास्तथाकरणे चित्रमिति हृदयम्। अन्वयस्तु, हे प्रिये! कमलजासपत्नि तव स्तुतिं कः करोति, तत्र हेतुः, यत् हरेरनुलक्ष्म्याः सेवया आमोक्षतः सुखं भवति, तव कथा इयं अधिका, यत्सकलगोपिकासङ्गमस्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमो भवति, लक्ष्म्याः यत् (न) भवतीत्येतेषामध्याहारः। एवं अस्मिन्पद्ये तनुनवत्वसम्पादकत्वमष्टममैश्वर्यं दर्शितम्।।८।।

---

१ पराकाष्ठा० पाठः।

तवाऽष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा।

समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः।।

एवं कालिन्दीं स्तुत्वैतत्स्तोत्रपाठफलमाहुस्तवाऽष्टकमिति। यद्यप्यन्यकृतान्यपि स्तोत्राणि सन्ति तथापि वक्ष्यमाणं फलमेतत्स्तोत्रपाठेनैव भवति, नाऽन्यथेति ज्ञापनायेदमित्युक्तम्। अन्यकृतस्तोत्रेष्वेवंविधस्वरूपनिरूपणाभावात्। इदं तवाष्टकं यः पठति तस्य पूर्वं समस्तदुरितक्षयो भवति। तदनन्तरं मोक्षदातर्यपि स्नेहो भवति। अतएवोक्तं, ''नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत'' इति। मुकुन्दपदाद्यद्यपि मोक्षमेव साधारण्येन सर्वेभ्यो ददाति तथापि त्वत्स्तुतिपाठात्प्रसन्नो भक्तिमेव ददाति न तु मोक्षमपीति भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमुक्तम्। ततः किमिति तत्राऽऽहुः

एवमष्टविधैश्वर्यप्रतिपादकान्श्लोकानुत्कर्षवर्णनतदशक्यवर्णनद्वारा व्याख्याय स्तोत्रस्यासाधारणफलबोधकमग्रिममवतारयन्ति एवमिति। उक्तप्रकारेण कलिदोषदात्रीं अलौकिकप्रकारेण संस्तूय अष्टविधैश्वर्यप्रतिपादकस्तोत्रस्य व्यक्ततयोदितस्य श्रीमत्प्रभुतुषष्टिरूपं फलं प्रतिजानन्त आहुः यद्यपीति। अन्येतिशमराचार्यप्रभृतिभिर्निर्मितानि। वक्ष्यमाणमिति अस्मिन्नेव पद्येऽनुपदं कथ्यमानम्। फलमिति स्तोत्रपाठमात्रेणैव भृशं सकलदुरितनिवृत्तिपूर्वकमुकुन्दरतिनिष्पत्तिः एतत्पाठेनैव तत्र हेतुमाहुः। अन्यकृतेति। एवं विधेति स्तुतिं तवेतिश्लोकोक्तस्वरूपनिरूपणस्य तथात्वात्। फले क्रमं वदन्तो मूलान्वयमाहुः इदमिति। अत्र प्रमाणमाहुः अत एवोक्तमिति। एतेन दुरितनाशस्य भक्तिप्रजनने हेतुत्वमुक्तं भवति। मूलस्थस्य मुकुन्दपदस्याशयमाहुः मुकुन्दपदादिति। तथा चोक्तं पञ्चमस्कन्धे, ''राजन्पतिर्गुरुरलम्भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किमरो वः। अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमिति ५।६।१८ भक्तिमेवेति। मूलस्थस्य निश्चयवाचकवैपदस्य तात्पर्यं बोध्यम्। तेन यद्यपि स मोक्षदस्तथापि त्वस्तुतेः प्रीतो भक्तिं ददातीति सुष्टूक्तं भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमिति। उत्तरार्द्धमवतारयन्ति तत इति, दुरितक्षयानन्तरं भगवद्रतेः किमग्रे फलं तदाहुः तयेति शेषपदा-

तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति।

तया सङ्कलसिद्धय: पूर्वोक्ता: सर्वात्मभावादयो भवन्तीति शेष:। ननु प्रतिबन्धके विद्यमाने सति कथमेतत्स्तोत्रमात्रादेतावद्भवतीति चेत्तत्राऽऽहुर्मुररिपुश्च सन्तुष्यतीति। यथा दोषरूपं तन्निरुद्धकन्यासुखप्राप्तिप्रतिबन्धकं निराकृत्य ता अङ्गीकृतवानेवमेतत्पाठेनाऽपि प्रतिबन्धं निवार्य तमप्यङ्गीकरोतीत्यपि ज्ञापनाय मुररिपुपदम्। फलान्तरमाहु: स्वभावविजयो भवेदिति। स्वभावस्य विजय: परावृत्तिर्भवति। सवासनेति व्युपसर्गार्थ:। दुष्टस्वभा–

गो। श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

न्तम्। यद्वा, तया मुकुन्दरत्या सकलसिद्धयो गोप्यो मुररिपुश्च सन्तुष्यति। सकलस्य पुरुषोत्तमस्य रमणस्य सिद्धिर्याभ्य:। भगवत्कृतप्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन तद्वतो भक्तद्रोग्धारो यदेदं स्तोत्रं पठिष्यन्ति तत्र का व्यवस्थेति मनसिकृत्य क्षिपन्तो मूलस्थस्य मुररिपुपदस्यसदृष्टान्तमाशयमाहु: नन्वित्यारभ्य पदमित्यन्तम्। मूले च सन्तुष्यतीति। तथा च, लोके स्वोत्कर्षवर्णनात्स्वप्रियोत्कर्षकथनस्यात्यन्तं स्वतोषबीजत्वेन श्रीयमुनायाश्चात्यन्तं स्वहार्दवित्त्वेनैतत्स्तोत्रानुजल्पनेन प्रतिबन्धनिवारक: प्रभु: सम्यक् तुष्यति। यथा व्रजवरकुमारिकास्वेतत्तटे तुष्टो रासादिसुखं दत्तवांस्तथैतज्जल्पितारमप्यनुगृह्णातीतिभाव:। किञ्च, श्रीयमुनाष्टकपाठात्स्वामिनि तुष्टेऽनावरणानाच्छन्नप्रभुलीलामध्यपातिनि जीवे स्वामिन्योऽपि तुष्यन्ति, न तु भगवत्प्रियत्वरूपस्वभोग्यफलभोक्तरि जीवे ईर्ष्यन्ति, मुरलिकावत्। भगवत्प्रियकलिवारकश्रीयमुनातोषस्य सर्वभक्ततोषहेतुत्वादिति चकारार्थ:। टीकायां फलान्तरमिति सकलदुरिताऽभावपूर्वकभगवद्रतिनिष्पत्तिरूपमेकं फलं पूर्वं निरूपितम्, तेन भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमेतस्योक्तम्, अत: परं जीवस्वभावपरावर्त्तकत्वमुच्यते स्वभावस्येति। स्वभावश्च जीवात्मनो भाव:, प्रकृतिजन्यबोधे प्रकार:। जीवस्य जीवत्वमिति यावत्। तथा चोक्तं, विद्वन्मण्डने, "आनदांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो, येन जीवभाव" इति। तथा च, जीवस्याविद्यासम्बन्धेन भगवद्बहिर्मुख्यत्वस्यैतत्पठितु: कृपया हृदि प्रभावविर्भूतेऽन्तरस्मात्तनुनवत्वे सम्पन्ने बाह्यतश्च परावृत्तिर्भवति। यद्वा, स्वभावशब्देन मन उच्यते। तस्य विजय: स्वातन्त्र्येण प्रवर्त्तनं भवति। यद्वा, स्वस्य जीवस्य भाव:। श्रीगोकुल प्राणप्रियसेवनरूपसहजधर्मस्तस्य विविध उत्कर्ष:। परा अत्यन्तं आवृत्तिरसकृत्सेवनम्, सम्पूर्णसेवाधिकार सिद्धिर्भवति। सेवाफलग्रन्थे वक्ष्यमाणस्य आद्यस्यालौकिक सामर्थ्यरूपफलस्य प्राप्तिरिति यावत्। स वासनेतीति अनेकमनोरथानां

स्वभावविजयो भवेद्वदति वल्लभः श्रीहरेः।।९।।

धीमद्वैश्वानरावतार श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितं

श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम्।

वोऽप्युत्तमस्वभावो भवतीत्यर्थः। नन्विदमनेकतपःसाध्यं कथमेतत्पाठमात्रादिति चेतत्राऽऽहुर्वदति वल्लभ इति। तेनाऽऽप्तवाक्यत्वेन प्रामाण्यमुक्तम्। नन्वितः पूर्वं केनाऽप्यनुक्तत्वाद् भवदुक्तिमात्रेण कथं प्रामाण्यमिति चेत् तत्र आहुः श्रीहरेरिति। साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसम्बन्धी यतः, अहमतो वदामीत्यर्थः। अत्राऽयमाशयः। साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपं साक्षात्तत्सम्बन्धिनएव जानन्ति न त्वन्ये। श्रीकालिन्द्याः साक्षात्तत्सम्बन्धित्वं पूर्वं प्रकटमेवोपपादितम्। स्वातिरिक्तानां साक्षाच्छ्रीगोकुलेशसम्बन्धाभावात्साक्षात्तत्सम्बन्धिन्याः स्वरूपाज्ञानात्तदकथनम्। स्वस्य तु साक्षात्तादृशत्वात्तत्स्वरूपज्ञानात्तत्कथनमिति नाऽनुपपत्तिः काचित्।

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचिता श्रीयमुनाष्टकविवृतिः सम्पूर्णा।

पूर्त्तिर्भवति। स्तोत्रपठितुः ''कृष्णोऽहं पश्यत गतिमिति'' श्लोकोक्तो मोक्षः सम्पद्यते। बाहिर्मुख्यनिवृत्तिपक्षे कर्मवासनानामनुद्भवो भवति। दुष्टस्वभाव इति। बहिर्मुख्यादिदोषग्रस्तोपि दैन्यभावसिद्ध्या सन्मुखो भवति। एतद्विषये प्रामाण्यं वक्तुमाशमन्ते नन्विदमिति। समादधते वदति वल्लभ इति, प्रियाः प्रियाभिप्रायं विज्ञायैव वदन्तीति भावः। तेनाप्तत्वेनेति। आप्तश्च यथादृष्टार्थवादी, तादृशास्त्वत्राचार्यचरणा एव। अन्येषामेतज्ज्ञानं नेति वक्तुं क्षिपन्ति नन्वित इति। श्रीहरेरिति। श्रीभिः स्वामिनीभिर्युक्तस्य सर्वदुःखहर्त्तुः प्रियोहम्। यतो वदामि तेन तत्तथैव। अग्रे स्पष्टम्। तथा हि, साक्षादिति श्रीयमुनाप्रभृतीनां स्मरश्रमे इत्याद्युक्तं रूपम्। साक्षात्तदिति श्रीमदाचार्या एव जनन्ति। स्वातिरिक्तानामिति, श्रीमदाचार्यपादाब्जामोदरहितानाम्। साक्षादित्यादि। (अभावादिति)। आवरणानाच्छन्नस्वामिनीसहितगोकुलपतेरसम्बन्धात्। साक्षादिति श्रीयमुनायाः, तदिति एतादृक्प्रकारस्याकथनम्। स्वस्येति श्रीमदाचार्यरूपेण स्थितस्य साक्षादिति प्रकटतया, तादृशत्वादिति वस्तुतः कृष्णरूपत्वात्, तदिति 'स्मरश्रमे' त्याद्युक्तस्वरूपस्यवर्णनमिति, न शमालेश इति दिक्। मूलान्वयस्तु, हे सूरसूते! इदं तवाष्टकं यः सदा मुदा पठति, तस्य समस्तदुरितक्षयो भवति, वै मुकुन्दे रतिर्भवति, तया सकलसिद्ध्यो भवन्ति, मुररिपुश्च सन्तुष्यति, स्वभावविजयो भवेत्, श्रीहरेर्वल्लभो वदति।

गो।श्रीद्वारिकाशचरणविरचिततटिप्पणम् ।

श्रीमदाचार्यकृपया भर्त्तुः श्रीगिरिधारिणः।
श्रीमद्विट्ठलनाथस्य कृतिर्हि विवृता मया।।१।।
अत्र किञ्चिदयुक्तं यन्मयोक्तं स्वल्पबुद्धिना।
क्षाम्यन्तु तन्निजाचार्याः किमरे निजवंशजे।।२।।
युग्मम्।।
स्वान्तःकरणनिष्ठेन श्रीमदाचार्यरूपिणा।
श्रीमद्विट्ठलनाथेन श्रीगोवर्द्धनधारिणा।।३।।
प्रेरितेन कृतेयं श्रीमथुरानाथसूनुना।
प्रीत्यै भूयाद्भगवतोः कालिन्दीकृष्णदेवयोः।।४।।
इति श्रीमद्गोपीजनसुखपतेः पादयुगले,
मनो धृत्वा दीनं किसलयदलाभे विरचिता।
सदा श्रीकृष्णास्यात्मजचरणदेशे प्रपतिता
निजा भक्ता एनामनुदिनमुदारां विदधतु।।५।।
कालिन्दीकृष्णयोः प्रीत्यै सुगमान्वयबोधिनी।
कृता तेन प्रसीदन्तु श्रीमदाचार्यनन्दनाः।।६।।
श्रीमद्गोवर्धनधरसेवायां प्रतिबन्धकाः।
ये ते सर्वे प्रणश्यन्तु ममेति प्रार्थनं प्रभो।।७।।

इति श्रीमथुरानाथात्मजश्रीद्वारकेशचरणविरचिता सुगमान्वययोधिनी श्रीयमुनाष्टकविवृतिटीका सम्पूर्णा।

श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचितायाः
श्रीयमुनाष्टकविवृतेः
विवरणत्रयं
समाप्तम्।